वक्त का तकाजा है...

एकमात्र

राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्र

के निर्माण के लिये

आगे बढ़ो

सत्यनारायण ठाकुर

UNIONVIEW PUBLICATION
Wakta Ka Takaza Hai...

© 1994 SATYANARAYAN THAKUR

प्रथम संस्करण : अगस्त 1994

प्रकाशक : **यूनियनव्यू**
कन्हौली (मठ) मुजफ्फरपुर (बिहार)
पिन कोड—842 002

प्राप्ति स्थान—**साहित्यालोक**
मोतीझील, मुजफ्फरपुर (बिहार)
पिन—842 001

मूल्य—**पांच रुपये**

मुद्रक : **जानकी प्रेस**
रामबाग रोड, मुजफ्फरपुर

लेखकीय

फिराक गोरखपुरी माने हुए शायर हैं। जिंदगी की हकीकत से दो-चार करने के पहले इनके कुछ अशआर सुनें—

बहुत पहले से इन कदमों की आहट जान लेते हैं,
तुझे ये जिंदगी, हम दूर से पहचान लेते हैं।
एक मुद्दत से तेरी याद भी आई न हमें,
और हम भूल गये हों तुझे ऐसा भी नहीं।
न कोई वादा, न कोई यकीं, न कोई उम्मीद,
मगर हमें तो तेरा इंतजार करना था।
जिंदगी क्या है, आज ये दोस्त,
सोच लें और उदास हो जाय।
एक मुद्दत से दिले गमीं पे था एक बोझ सा
आज तेरी याद में रोये तो हल्के हो गय।
जो उलझी थी कभी आदम के हाथों
वो गुत्थी आज तक सुलझा रहा हूँ।

गुत्थी को सुलझाना ही जिंदगी है। पुरानी गुत्थियाँ सुलझती हैं। नयी उलझती हैं। आदम के जमाने से मनुष्य प्रकृति से उलझता रहा है। इस क्रम में इसने अपने बीच ही शोषक शासक पैदा कर लिया। मानवता के समक्ष यह नयी गुत्थी थी। पुरानी गुत्थी सुलझी नहीं। नयी गुत्थी दरपेश हो गयी। "जिंदगी क्या है ए दोस्त सोच लें और उदास हो जायें।" लेकिन फिराक नयी जिंदगी को "दूर से पहचान" रहे हैं।

जीवन यात्रा में हम भटके भी। खूब भटके। लेकिन "हम भूल गये हों तुझे, ऐसा भी नहीं।" और इसलिये "आज तेरी याद में रोये तो हल्के हो गये।"

रोना कोई चाहता नहीं। लेकिन है यह नैसर्गिक। रोने से दिल हल्का होता है। नयी आशा का संचार होता है। इसी विश्वास के साथ यह क्रंदन समर्पित है।

आजादी के बाद का पहला दसक रंगीन सपनों से भरा था। वे सपने जिसे कांग्रेस नेताओं ने बुने थे। कांग्रेस ने सत्ता संभालते ही लोक कल्याणकारी राज्य, और बाद में लोकतंत्र और समाजवाद अपना उद्देश्य घोषित कर दिया। मजदूर वर्ग के बड़े हिस्से ने राज्य सत्ता के साथ सहयोग और समर्थन की स्थिति ग्रहण की। लेकिन

दूसरे और तीसरे दसक के आते-आते जनता का मोहभंग हुआ। वर्ग संघर्ष की पहचान बनी। किन्तु इन दो दसकों का मजबूत नकारात्मक पक्ष था वामपक्ष का का बिखड़ना। यह वह काल था जब विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में फूट पड़ गया। भारत भी अप्रभावित नहीं रहा। यह वह काल था जब कांग्रेस से जनगण का मोहभंग हो रहा था, किन्तु उसको भरने के लिये वामपक्ष तैयार नहीं था। वह स्वयं सैद्धांतिक झगड़े और सांगठनिक बिखराव की पीड़ा झेल रहा था। इसलिये कांग्रेस का स्थान 1977 में जनता पार्टी ने लिया। जनता पार्टी परस्पर विरोधी दलों का अवसरवादी गठबंधन था, जिसके शीर्ष पर मोरारजी देसाई जैसे घाघ कांग्रेसी बैठे थे। जब उसने काले औद्योगिक सम्बन्ध विधेयक से प्रहार किया तो मजदूर वर्ग दलगत भेदभावों से ऊपर उठकर संयुक्त रूप से मुँहतोड़ जवाब दिया। सन् 1978 के बाद इस तरह प्रारंभ हुआ संयुक्त संघर्ष का दौर।

लेकिन संयुक्त संघर्ष अब अपनी कामयाबी की सीमा छू चुका है। संयुक्त संघर्ष अब एकताबद्ध संघर्ष के डगर पर डग नहीं बढ़ायगा तो वह फिर अंधगली फंसेगा। इसके संकेत अभी से मिलने प्रारंभ हो गये हैं। 1978 के बाद के पूरे दसक में संयुक्त आंदोलन का तेवर आक्रामक था। अब प्रतिरक्षात्मक स्थिति में पहुँच गया है। गैट समझौता, नई आर्थिक नीति और साम्राज्यवाद के भूमंडलीय षडयंत्र के खिलाफ मजदूर वर्ग को एकताबद्ध शंखनाद करना होगा। ऐसे ही मौकों पर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पटना महाधिवेशन (11-15 मार्च 1994) ने भारत में आजादी के पहले की तरह एक ही राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्र बनाने का आह्वान किया है। यह अत्यन्त प्रासंगिक है। प्रस्तुत पुस्तिका इस दिशा में सोचने समझने का एक प्रयत्न है।

पुस्तिका मजदूर वर्ग को सामने रखकर लिखी गयी है। इसलिये इसकी भाषा और शैली चालू किस्म की है। विद्वद्जनों को कुछ अटपटा लग सकता है। मजदूर अपनी प्रतिक्रियाएँ बिना घुमाव-फिराव के सीधे-सपाट व्यक्त करता है, जो सभ्रांत जनों के घुमावदार शिष्टता की क्लीष्टता से मुक्त होता है। सुहृद पाठक हमारी इस सीमा को समझेंगे, ऐसी आशा है।

—सत्यनारायण ठाकुर

चन्द्रशेखर भवन
मिठनपुरा, मुजफ्फरपुर (बिहार)
15 अगस्त 1994

इन दिनों मजदूर वर्ग प्रतिरक्षात्मक लड़ाई लड़ रहा है। 1980 के बाद की तमाम कसरतों के बावजूद इसकी आक्रामक मुद्रा नहीं बन पायी है। मजदूर वर्ग के आक्रामक तेवर के सामने इंदिरा-राजीवकाल में संसद के दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित ट्रेड यूनियन कानूनों में संशोधन का विधेयक कानून नहीं बन सका था। अगर जन-समर्थन से बनी जनता पार्टी सरकार ने 1978 में मजदूर वर्ग की जुझारू कार्रवाई के सामने हथियार डाल दिया था, जब उसने तत्कालीन बदनाम काला औद्योगिक सम्बन्ध विधेयक वापस ले लिया। वही मजदूर वर्ग आज अल्पमती (अब क्षीण बहुमत) सरकारों (भारत सरकार या बिहार सरकार) के सामने प्रतिरक्षात्मक स्थिति में असहाय क्यों है ?

मानना पड़ेगा कि 1967 की गैरकांग्रेसी सरकारों को बनाने में मजदूर वर्ग की भूमिका थी। इसी तरह 1977 में जनता पार्टी राज को बनाने में मजदूर वर्ग का बड़ा हिस्सा सक्रिय था। यही नहीं, 1989 की जनता दल सरकार को शासनारूढ़ करने में वामपंथी मजदूर संगठनों ने योगदान किया। इन सरकारों की विफलताओं ने मजदूर वर्ग का दिल तोड़ दिया है।

कहा जाता है अपनी हार और बहू की मार में कोई पंच नहीं होता। इन सरकारों ने, यही नहीं कि जनता के चुनावी वायदे पूरे नहीं किये, बल्कि मजदूर वर्ग पर नये हमले किये हैं। इसके लिये मजदूर वर्ग तैयार नहीं था। कांग्रेस (ई) कुशासन से परेशान लोगों ने नयी सरकारों को भी उसी रास्ते पर चलते देखा, जिस पर पुराने शासक चल रहे थे। इससे लोगों में निराशा छायी है।

अपने खिसकते जनाधार को थामने के लिये शासक वर्ग के एक हिस्से ने 'मंडल' को ठंढे बस्ते से बाहर किया तो दूसरे हिस्से ने 'कमंडल' लेकर जवाबी हमला किया। दोनों ने मिलकर सम्पूर्ण समाज का साम्प्रदायीकरण कर दिया। जातीयता और साम्प्रदायिकता दोनों ही विभाजक शक्तियाँ हैं। इसने मिहनतकश आवाम की वर्गीय एकता को भीतर से बांटने का काम किया। असम, पंजाब, कश्मीर की अलगाववादी ताकतों से अप्रभावित मजदूर वर्ग के मर्मस्थल पर यह सांघातिक हमला था। वर्ग दृष्टिकोण की जिस आधार

शिला पर मजदूर वर्ग खड़ा था, नये शासकों ने उसी पर चोट की। मजदूर वर्ग के लिये यह अत्यत मर्मान्तक था। जिस सरकार को उसने बनाया था, यह प्रहार उसी ओर से था। मजदूर वर्ग ने पहले भी लाठी-गोली के बाहरी हमले का सामना किया था। पूँजीवादी दर्शन का वैचारिक मुकाबला करने के लिये उसे मार्क्सवादी वर्गदर्शन का हथियार हासिल था। लेकिन यहाँ तो भारतीय शोषकों की तरकस में सम्प्रदाय, जाति और मजहब के नये तीर मौजूद थे। शासक वर्ग के दो गुटों द्वारा सत्ता पर कब्जा करने के युद्ध में छोड़े गये इन नये तीरों का निशाना सामान्य जन हुए तो मजदूर वर्ग उससे अछूता कैसे रह सकता था।

जब रोम जल रहा था तो नीरो बंशी बजा रहा था। ठीक यही हुआ भारत में। जब सारा देश साम्प्रदायिकता और जातीयता की आग में धू-धू जल रहा था तो नरसिंह-मनमोहन-प्रणव की तिकड़ी भारतीय एकाधिकार पूँजीपति वर्ग का कोहबर विश्व साम्राज्यवाद के साथ रचाने में लीन थी। जिस रास्ते पर इंदिराजी दो कदम चलकर हिचक गयीं, जिस रास्ते पर संसद में प्रचंड बहुमत रहते हुए भी राजीव गांधी हिम्मत नहीं जुटा सके, उस खतरनाक रास्ते पर अल्पमती नरसिंह राव सरकार निःशंक बेरोकटोक बढ़ती गयी तो यह मौका उनलोगों ने प्रदान किया जिन्होंने 'मंडल-कमंडल' में देश को उलझा रखा था। सपूर्ण विपक्ष संसद के बाहर नयी आर्थिक नीति के खिलाफ वाग् वाण छोड़ता रहा, किंतु संसद के भीतर सरकार को गिराने से हमेशा सचेत परहेज किया। संसद में अविश्वास प्रस्ताव पर एकसाथ मतदान करने को संपूर्ण विपक्ष तब तैयार हुआ जब नरसिंह राव वास्तविक बहुमत जुटाने में समर्थ हो गये।

कोई पार्टी फिर से संसद भंग होने और दूबारा चुनाव का जोखिम नहीं उठाना चाहती थी। अविश्वास प्रस्ताव पहले भी आये थे। किन्तु तब राष्ट्रीय मोर्चा के अविश्वास प्रस्ताव पर भा.ज.पा. ने बहिष्कार किया तो भा.ज.पा. के अविश्वास प्रस्ताव के समय रा.मो. अनुपस्थित हो गया। वा.मो. ने रा.मो. का साथ दिया! इस प्रकार बहिष्कार और अनुपस्थिति के संसदीय खेलों की तार्किक परिणति ने कांग्रेस (इ) को अपनी अल्पमती सरकार के गिरने के खतरे से मुक्त कर दिया। कांग्रेस (इ) निर्भीकतापूर्वक विपक्ष के किसी आकस्मिक खतरे से निश्चित होकर नयी आर्थिक नीति के प्रतिगामी पथ पर आगे बढ़ती गयी। चालाक शासक वर्ग विपक्ष की कमजोरी का फायदा उठाकर दिनानुदिन मजबूत होता गया। साम्प्रदायिकता और

जातीयता के स्मोकस्क्रीन के नीचे एकाधिकार पूँजी की विसात अबाध बिछती गयी ।

आखिर कौन सा आसमान गिर जाता अगर बाबरी मस्जिद ढाहने के साथ ही नरसिंह राव सरकार को ढाह दिया जाता ?

अस्थिरता ?

तो वे कौन थे, जो नरसिंह राव सरकार को स्थिर देखना चाहते थे ?

निश्चय ही नरसिंह राव सरकार को स्थिर करना भारतीय एकाधिकार पूँजी के पक्ष मे साबित हुआ । नरसिंह राव सरकार को स्थिर करना भारतीय श्रमजीवी जनगण के हितों के विरुद्ध साबित हुआ । आखिर वामपंथ ने भा.ज.पा के साथ वोट न करने की अपनी कंठी तोड़ ही दी तो वह पवित्र कंठी पहले भी तोड़ी जा सकती थी । वामपंथ की इस पवित्र कंठी ने एकाधिकार पूँजी के स्वार्थ को स्थिर करने में सहयोग किया, जिसके खिलाफ संसद के बाहर वे मुहिम चला रहे थे ।

बुर्जुआ सरकार की स्थिरता निहित स्वार्थ की पक्षधर होती है । क्रांतिकारी शक्तियों द्वारा इसका समर्थन आत्मघाती है । पूँजीवाद के संकट को हल करना हमारा काम नहीं है । पूँजीवादी संकट का विस्फोट क्रांतिकारी परिस्थिति के परिपक्व होने की पूर्व शर्त है । निश्चय ही स्थिरता के नाम पर नरसिंह राव की सरकार को स्थिर करना एकाधिकार पूँजी के स्वार्थ को स्थिर करना हुआ । यही नहीं, उसका विश्व पूँजीवाद के साथ सांठगांठ को सुस्थिर करना साबित हुआ ।

इसके पहले भी 1969 में कांग्रेस पार्टी में पड़ी फूट को वामपंथ ने पूँजीपति वर्ग में विभाजन मान लेने की भूल की थी । वामपंथ ने समझ लिया था कि इजारेदार और गैरइजारेदार खेमे के रूप मे पूँजीपति वर्ग का बिभाजन हो गया । श्रीमती इंदिरा गांधी के गुट को प्रगतिशील और दूसरे धड़े को प्रतिगामी समझा गया था । और इसीलिये 1969 से 1971 के चुनाव पूर्व संसद में भा. क. पा. और मा. क. पा. के संयुक्त मतों के सहारे कांग्रेस (इ) ने राज किया । बाद में 'आपात्काल घोषणा' और उसके परिणामों ने साबित किया कि बुर्जुआ सत्ता को बेशर्त्त समर्थन देना कितना महँगा होता है । बुर्जुआ सरकार को स्थिर करना या उसे असीम अधिकार सौंपना न केवल उसकी निरंकुशता को बढ़ाना है, बल्कि जनता के जनवादी

अधिकारों का समर्थन भी है। आपत्काल के काले दिनों की पुनरावृत्ति हम नहीं कर सकते।

वर्गचरित्र

यहीं एक नजर हम देश की राजनीतिक पार्टियों पर डालें। 1947 के बाद का भारत दलों के दलदल का गवाह है। दलों के बनने-बिगड़ने, जुटने-फूटने, संघटन-विघटन, दल-बदल, विलय-प्रलय के सृजन-विसर्जन की थकान-भरी यात्रा के बाद अब भारतीय लोकतंत्र जिस मुकाम पर पहुँचा है, वहाँ स्पष्ट युद्ध-रेखा खिंच गयी है। युद्ध रेखा की एक तरफ एकाधिकार पूँजीपति और उसकी राजनीतिक पार्टी काँग्रेस (इ) है तो दूसरी तरफ मजदूर वर्ग खड़ा है। बीच का राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग विभाजित है। इसका एक तबका शहरी व्यापारी, जमींदार और धनी किसान बहुसंख्यकों के धर्म को आधार बनाकर गोलबंद है। यह 'राष्ट्रीयता' का कवच-कुंडल पहनकर विश्व पूँजीवाद की दलाली करता है। इसकी प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी भारतीय जनता पार्टी है। पूँजीपति वर्ग का दूसरा तबका भूस्वामियों और नव-धनाढ्यों का है, जो जातीयता और अल्पसंख्यक धर्मों के अवसरवादी संगी-करण पर आधारित है। इसने 'सामाजिक न्याय' की रामनामी चादर ओढ़ ली है। यह कम्युनिस्ट विरोध के पुराने पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हुआ है। पूँजीपति वर्ग का यह तबका जनता दल और जनता दल से टूटे-बिखड़े अनेक गठनों में गुंठित है।

पूँजीपति वर्ग का यह विभाजन मजदूर वर्ग को अवसर देता है कि एकाधिकार पूँजी के विरुद्ध अपने संघर्ष में इसके एक धड़े को अपनी ओर खींच ले। किंतु इसमें बाधाएँ है। भारतीय जनता पार्टी और मजदूर वर्ग का रिस्ता बहुत दूर का है, क्योंकि भा. ज. पा. अपने कार्यक्रम और नीतियों के चलते काँग्रेस (इ) के नजदीक है। दूसरी ओर ज. द. और बिखरे धरों की कार्यशून्यता और दिशाहीन अवसरवादिता ने इसे मजदूर वर्ग से दूर कर दिया है। जातीयता और साम्प्रदायिकता (अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक) ने मजदूरों की वर्गचेतना पर ही आघात किया है। हमें इस कठिनाई पर काबू पाना है।

लेकिन पूरे मामले का सबसे दुखदायी पहलू यह है कि मजदूर वर्ग स्वयं विभाजित है। यह अनेक खंडों और उपखंडों में विभाजित है।

अनेक विरोधाभाषों के बावजूद एकाधिकार पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी एक ही है काँग्रेस (इ)। अनेक विरोधाभाषों के बावजूद

विश्व पूँजीवाद की दलाली करनेवाले देशी पूँजीपतियों की राजनीतिक पार्टी एक ही है भा. ज. पा.। किन्तु दुर्भाग्यवश क्रांतिकारी मजदूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी एक नहीं है। बल्कि इनकी राजनीतिक पार्टियाँ अनेक हैं और इनके मित्रों के अनेक टुकड़े भी बिखड़ हैं। एक दिल के टुकड़े हजार हुए, कोई यहाँ गिरे कोई वहाँ गिरे। क्या उन टुकड़ों को बटोरने का समय अब भी नहीं आया है ?

मार्क्स ने कहा—मजदूर वर्ग समाज का अगुआ दस्ता है। अगर यह उक्ति सही है तो मजदूर वर्ग को अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाने के लिये आगे आना होगा।

यह कोई अकस्मात नहीं था कि मार्क्स ने मजदूर वर्ग को अगुआ दस्ता कहा। उन्होंने मजदूर वर्ग को सलाह दी कि वह अपनी राजनीतिक पार्टी बनाये। मजदूर वर्ग जन्मजात क्रांतिकारी है। इसलिए इसकी पार्टी का चरित्र अनिवार्य रूप से क्रांतिकारी होगा। जब कोई पार्टी मजदूर वर्ग की अपेक्षाओं को पूरा नहीं करती तो वह मजदूर वर्ग की पार्टी नहीं रह जाती। सोवियत यूनियन एवं पूर्वी योरप की शासक कम्युनिस्ट पार्टियों के खिलाफ सर्वप्रथम वहाँ के मजदूरों ने ही हड़तालें कर दीं। उन देशों में आज स्थिति बदल रही है तो यह मजदूर वर्ग है, जिसने इतिहास के चक्के को घुमाया है।

ट्रेड यूनियन मजदूरों का वर्ग संगठन है। मजदूरों का वर्ग संगठन न तो राजनीतिक दल होता है और न राजनीतिविहीन। मजदूर वर्ग को दलगत प्रतिबद्धता से मुक्त होकर मजदूर वर्गीय राजनीति अपनानी होगी। आनेवाले दिनों में मजदूर वर्गीय राजनीति ही सामाजिक प्रगति का संवाहक होगी।

-मजदूरों की दिग्विजय घोषणा "दुनिया के मजदूरो एक हो" अभी सपना ही है। किन्तु साम्राज्यवादी दिग्विजय की भूमंडलीय योजना साकार सामने है। समाजवादी शिविर के बिखड़ने के बाद यद्यपि दुनिया को एक ध्रुवीय बनाने की साम्राज्यवादी इच्छा बलवती हो गयी है, किन्तु दुनिया का बुनियादी अंतर्विरोध अभी भी दो-ध्रुवीय है। श्रम और पूँजी का टकराव संसार का बुनियादी अंतर्विरोध कायम है और उसका तीक्ष्णतर होना अनिवार्य है। वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति ने इस प्रक्रिया में गुणात्मक तीव्रता प्रदान की है। दुनिया में जबतक साम्राज्यवाद जिंदा है, तबतक सुख-शांति सुरक्षित नहीं है। यह अकारण नहीं था कि मारकेस समझौता पर हस्ताक्षर के बाद गैट महानिदेशक पीटर सदरलैंड ने गहरी सांस लेकर उच्छवास किया—इस समझौते से तीसरा विश्वयुद्ध टल गया।

विगत दो महायुद्ध जर्मन धरती से प्रारंभ हुए। आज अमेरिकी साम्राज्यवादी मसूबा तीसरे महायुद्ध की भूमिका है। तब जर्मनी ने लीग ऑफ नेशंस को नकार दिया था। आज राष्ट्रसघ का नियामक सं० रा० अमेरिका है। इराक, लीबिया, सोमालिया, बोस्निया, इथोपिया, कोरिया, हैती आदि अंतर्राष्ट्रीय महत्व के हर अमेरिकी फैसलों पर संयुक्त राष्ट्रसघ ने सीधे मूहर लगायी है। राष्ट्रसघ की सुरक्षा परिषद अमेरिकी सरकार का 'सुरक्षा कवच' जैसा है। अं० मु० कोष और विश्व बैंक अमेरिकी हितों के अनुरुप विश्वव्यपार का ढाँचागत परिवर्त्तन कर रहा है। गैट समझौता और विश्व व्यापार संघ (WTO) का निर्माण दुनिया को एकध्रुवीय बनाने का प्रयत्न है। साम्राज्यवादी अपने अंतर्विरोधों को पाटने के लिये आगे भी अनेक गैट समझौता करेंगे। किंतु पूँजी और श्रम के दो परस्पर विरोधी ध्रुव, जिसे पूँजीवाद ने स्वयं ही पैदा किये हैं, समाप्त नहीं होंगे।

पूँजीवाद की तुलना में कमजोर सांगठनिक एकता के बावजूद विश्व पूँजीवाद से निर्णायक मुकाबला के लिये मजदूर वर्ग मुट्ठी तान रहा है। अंतर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य के इस ऐतिहासिक संघर्ष में निश्चय ही मजदूर वर्ग की स्वतंत्र भूमिका निर्णायक होगी।

वक्त का तकाजा है कि वाम ताकतें एक हों। वाम शक्तियों का एक मंच हो। भारतीय राजनीति में वामपक्ष को अपनी पहचान बनानी है तो वाम एकता और वाममंच इसकी पूर्व शर्त्त है। 1960 के दशक में कार्य-नीतिक मतभेद के चलते वाम पक्ष बिखड़ गया। प्रत्येक खंड ने अपने को क्रांतिकारी माना और दूसरे को संशोधनवादी। अपनी-अपनी लाइन को सफल करने के लिये प्रत्येक ने दूसरे को तोड़-फोड़ का शिकार बनाया। वर्ग शत्रुओं के खिलाफ संपूर्ण उर्जा का सदुपयोग होने के बजाय एक-दूसरे को ही समाप्त करने में ज्यादा उर्जा का दुरुपयोग हुआ। इससे किसी भी खंड की शक्ति नहीं बढ़ी। बल्कि वामपक्ष अनेक उपखंडों में खंड-विखंड हो गया। 1952 से लेकर 1991 तक के संसदीय चुनावों के परिणाम देखने से स्पष्ट होता है कि संपूर्ण वामपक्ष को प्रत्येक लोकसभा चुनाव में भारतीय मतदा-ताओं का 10 प्रतिशत के इर्द-गिर्द सम्मिलत मत मिला है। यह स्पष्ट संकेत है कि वामपक्ष अपने अलग-अलग के तमाम कसरतों और प्रयोगों के बावजूद 1952 की तुलना में बाद के पूरे दौर में आज तक दस प्रतिशत से ज्यादा मतदाताओं को आकर्षित नहीं कर सका। भा० क० पा० को तोडकर मा० क० पा० बनाने और फिर मा० क० पा० को तोड़कर अनेक क्रांतिकारी

टुकड़ियों के निर्माण से न तो राज्यसत्ता जनता के करीब आ सकी और न 1952 में प्राप्त मतों का औसत बढ़ सका।

वामपक्ष की सबसे बड़ी कमजोरी इसका अलग-अलग रहना है। सबों की अपनी डफली और अपना राग है। सभी डफलियाँ एक ताल पर थिरके और सातों स्वरों का सरगम हो तो निश्चय ही भारतीय राजनीति को नई दिशा दी जा सकती है।

कांग्रेस में इतिहास के प्रारंभकाल से नरम और गरम दल का टकराव रहा है और समाजवाद के प्रति गहरा आकर्षण रहा है। बाल गंगाधर तिलक लाला लाजपत राय, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेता समाजवाद से प्रभावित रहे। आचार्य नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्द्धन आदि दर्जनों राष्ट्रीय ख्याति के समाजवादी नेता हुए। भारत में समाजवादी आंदोलन के गहरे स्रोत हैं। आम जनगण को वामपक्ष से गंभीर अपेक्षाएँ हैं।

आम जनगण की अपेक्षाओं के अनुकूल वामपक्ष को बनाना है तो इसे ऐसी प्रणाली विकसित करनी होगी जिसमें एकताबद्ध राजनीतिक कारवाइयाँ होंगी और मत-मतांतरों के समाधान के लिये आंतरिक संवाद चलते रहेंगे। अगर साम्राज्यवाद अपने तमाम विरोधाभाषों के बावजूद बातचीत के दरवाजे खुले रखकर "जीओ और जीने दो" की व्यवस्था विकसित कर सकते हैं तो "दूसरों के लिये जीओ" के आदर्शवादी संवादविहीन कैसे हो सकते हैं! समय की पुकार है—एकताबद्ध कार्रवाई के लिये निरंतर परस्पर संवाद और आम सहमति के आधार पर एकताबद्ध राजनीतिक कार्रवाइयाँ।

आजाद भारत के अनेक प्रयोगों के बाद लोगों के सामने यह बात जाहिर हो गयी है कि पूँजीवाद का विकल्प पूँजीवाद नहीं है। लोगों की निगाहें समाजवादी विकल्प की ओर लगी हैं। एकताबद्ध मजबूत वामपक्ष जनवादियों के ढुलमुलपन और अवसरवादिता पर भी मजबूत लगाम साबित होगा। भारतीय राजनीति का कांग्रेस और गैरकांग्रेसवाद के अवसरवादी बंदरबांट की जगह यह सिद्धांतनिष्ठ वर्गीय राजनीति की शुरूआत होगी।

विश्व पूँजीवाद का हमला तेज

आजादी के पहले ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ राष्ट्रीय चेतना और वर्ग चेतना का गंगा-यमुना संगम संपूर्ण भारतीय मजदूर वर्ग को एक कर

रखा था। आज फिर विश्व पूँजीवाद की साम्राज्यवादी भूमंडलीय योजना ने दलगत प्रतिबद्धता से उठकर संपूर्ण मजदूर वर्ग को एक धरातल पर ला खड़ा किया है। 1948 के दलगत विभाजन (एटक को तोड़कर अलग इंटक का बनाना) के बाद एक लंबी यात्रा चलकर भारतीय मजदूर वर्ग इस मुकाम पर पहुंचा है।

लेकिन तब और अब में बड़ा अंतर है। तब भारत में एकाधिकार पूँजी का जन्म नहीं हुआ था। पूँजी के खिलाफ मजदूरों का संघर्ष आम तौर पर ब्रिटिश पूँजी पर चोट करता था। फिर राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का स्वार्थ विदेशी पूँजीपतियों से टकराता था। राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ब्रिटिश उपनिवेशवादियों से लोहा ले रही थी। इस तरह शोषण के खिलाफ वर्ग संघर्ष और आजादी के लिये राष्ट्रीय संघर्ष एक समान धारा थी, जिसके समान दुश्मन और समान हित थे। गुलाम भारत में विदेशी शोषण के खिलाफ संघर्ष आम जनता का जनसंघर्ष था।

किंतु आज भिन्न परिस्थिति में हम रह रहे हैं। आज भारत में एकाधिकार पूँजीपति वर्ग का उदय हो चुका है और इसकी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस (इ) का साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन पक्का हो गया है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ बिगुल फूँकनेवाली कांग्रेस का चरित्र बदल चुका है। यह विश्व पूँजीवाद की साम्राज्यवादी भूमंडलीय अर्थतंत्र का पार्टनर बनने के लिये बेताब है। और इसके लिये आत्मनिर्भर राष्ट्रीय अर्थतंत्र में ढाँचागत परिवर्त्तन कर रहा है।

इस ढाँचागत परिवर्त्तन का नतीजा यह होगा कि राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग अपनी पहचान खो देंगे। संपूर्ण पूँजी का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो जायगा। देशी और विदेशी पूँजी के साथ सरकारी भेदभाव का बर्ताव समाप्त किया जा चुका है। अब अंतर्राष्ट्रीय निगमों/कार्टेल्स को भी भारत में समान सामाजिक न्याय सर्व सुलभ है। इसलिये आज जब भारतीय एकाधिकार पूँजीपति वर्ग का स्वार्थ विश्व पूँजीवाद के साथ एकाकार हो गया है तो मजदूर वर्ग का राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य भी एक हो गया है। एक ध्रुव पर विश्व पूँजीवाद है तो दूसरा ध्रुव दुनिया के तमाम मिहनतकस आवाम का है। चूँकि पूँजी का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो गया है, इसलिये मजदूरों के वर्ग संघर्ष का चरित्र भी अंतर्राष्ट्रीय हो गया है। भारत के एक कारखाने में की गयी हड़ताल विश्व पूँजीवाद पर एक चोट होगी। सर्वहारा की अंतर्राष्ट्रीयता एक नये कलेवर में एक नये संदर्भ में प्रस्फुटित हो रही है।

इतिहास ने मजदूर वर्ग को नये स्थल पर नयी चुनौतियों से दो हाथ करने का नायाब मौका दिया है।

आज फिर विश्व साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष भारतीय जनगण का आम जन संघर्ष का चरित्र ग्रहण कर चुका है। आजादी की लड़ाई के दौरान बड़े जमींदार, राज-रजवाड़े अँग्रेजों के साथ थे। उसी तरह एकाधिकार पूँजीपति और उसकी पार्टी कांग्रेस (इ) साम्राज्यवादियों की भूमंडलीय पांत में आज खड़ी हो गयी है। लेकिन ये कौन सा क्लब ज्वायन करेंगे? नाफ्टा, इसी, एसियान .... ?

भारतीय मजदूर वर्ग

इतिहास को कुरेदना अच्छा नहीं होता। लेकिन इससे सबक लेना बुरा नहीं। असल में समय के तीनों दौर भूत, वर्त्तमान और भविष्य का यथार्थ वर्त्तमान ही है। भूत जैसा हम उसे वर्त्तमान में देखते हैं। भविष्य जैसा हम उसे वर्त्तमान में देखना चाहते हैं, और वर्त्तमान जैसा हम उसे वर्त्तमान में भोगना चाहते हैं। मानवता समय के तीनो दौर का भार सिर पर लिये प्रयाण करती है। इसके प्रत्येक पग में भूत की धड़कन और भविष्य की आहट होती है।

आजादी के बाद भारतीय मजदूर वर्ग का विभाजन अनेक जमातों में हो गया। अँग्रेजों के जाने के बाद काँग्रेस की नयी सरकार ने लोक कल्याणकारी राज्य और बाद में समाजवाद अपना उद्देश्य घोषित किया। इस घोषणा से भारतीय मजदूर वर्ग का एक बड़ा हिस्सा प्रभावित हुआ। उसने न केवल साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष को अनावश्यक करार दिया, बल्कि वर्गसंघर्ष को भी अपरिहार्य नहीं समझा। उन्होंने कांग्रेस की नयी सरकार को अपनी सरकार समझा और इसके समर्थन और सहयोग की स्थिति ग्रहण की। भारत के नये शासक वर्ग ने राष्ट्रीय चेतना और वर्ग चेतना से लैस मजदूर संगठन एटक को अपने वर्ग हित में एक खतरा समझा। यही कारण था कि सत्ता ग्रहण के तुरत बाद ही एटक को तोड़ने के काम को कांग्रेस ने प्राथमिकता दी। उसने भारतीय मजदूर वर्ग का एकमात्र संगठन एटक को तोड़कर वर्ग सहयोग के दर्शन पर आधारित मजदूर संगठन इंटक का गठन किया।

बाद के दिनों में तो फैशन हो गया—जितनी राजनीतिक पार्टियाँ उतने मजदूर संगठन। राजनीति के दलगत विभाजन के आधार पर मजदूर वर्ग

के विभाजन का कुचक्र चल गया। फिर एक नयी घटना घटी। वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ण संघर्ष का नारा नया उछाला गया। जातीय आधार पर मजदूर संगठन निर्बाधित हुए। इंटक ने वर्ग संघर्ष का परित्याग कर वर्ग सहयोग का अध्याय प्रारंभ किया तो साम्प्रदायिक एवं जातीय संगठनों ने मालिकों के खिलाफ लक्षित मजदूरों के एकताबद्ध संघर्ष को भ्रमित कर मजदूरों को आपस में ही एक दूसरे से भिड़ा दिया। पूँजीपति वर्ग के दो हिस्सों ने मजदूरों को भी दो हिस्से में बांटकर अपना पिछलग्गू बनाने का काम किया। एक ने वर्ग सहयोग के दर्शन पर इंटक बनाया तो दूसरे ने वर्ण संघर्ष को उछालकर जातीय और साम्प्रदायिक संगठन खड़े किये।

वर्ग दर्शन पर आधारित वाम आंदोलन भी अछूता नहीं रहा। इनकी भी अलग-अलग अनेक दुकानें खुल गयीं। केन्द्रीय सरकार द्वारा चलाये जा रहे ट्रेड यूनियनों के मौजूदा सदस्यता वेरिफिकेशन में दो दर्जन से ज्यादा केन्द्रीय मजदूर संगठनों ने अपना दावा पेश किया है। कांग्रेस ने दलगत राजनीतिक स्वार्थ में मजदूरों का दलगत विभाजन किया तो कई गैरकांग्रेसी पार्टियों ने अपनी दलगत रणनीतियों के अनुकूल वर्ण संघर्ष और हिंदुत्व के नारे के साथ मजदूर वर्ग में जातीय और धार्मिक विभाजन किये। इन नारों ने मजदूर वर्ग के एक हिस्से को दूसरे हिस्से के विरुद्ध भिड़ाने का काम किया और शोषक वर्ग रेफरी की मजेदार भूमिका में आ गया।

मजदूरों का जातीय और साम्प्रदायिक विभाजन शोषक श्रेणी का प्रपंच है, तो दलगत विभाजन संसदवाद में अंतर्निहित अवसरवादी स्वार्थ की अभिव्यक्ति हैं। इस तरह सत्ता संघर्ष में तल्लीन विभिन्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा आजमायी गयी दलगत स्वार्थ की रणनीतियों का शिकार मजदूर वर्ग होता गया।

वामपंथ

वामदलों के राजनीतिक दस्तावेजों में संसदवादी भटकावों की निंदा जरूर की जाती रही है। किंतु क्या इससे इंकार किया जा सकता है कि वामदल स्वयं भी संसदवादी अवसरवादिता का लोभ संवरण नहीं कर सके? आखिर वर्ग दृष्टिकोण में विश्वास रखनेवाले मजदूर संगठनों को एक होने से कौन रोक रहा है? क्यों रोक रहा है?

कभी एक देश में एक कम्युनिस्ट पार्टी हुआ करती थी। अब एक देश में अनेक कम्युनिस्ट पार्टियाँ हुआ करती है। ऐसा मुख्यतः विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के विघटन के दौर में हुआ। रूस में समाजवादी निर्माण के बारे

में महान क्रांतिकारी चेग्वेरा ने लिखा—"जिसे मार्क्सवाद कहा जाता है, उसका हम निर्माण कर रहे हैं तो इसलिये कि उसे हमने यहाँ (क्यूबा में) पाया है।" फिदेल कास्त्रो जब जंगलों से बतिस्ता सरकार के खिलाफ जंग छेड़ रहे थे तो उनकी पार्टी का नाम कम्युनिस्ट पार्टी नहीं नहीं था। उस समय क्यूबा में अपने को कम्युनिस्ट कहने वालों की पार्टी का नाम भी कम्युनिस्ट पार्टी नहीं था। मास्को द्वारा मान्यता प्राप्त कम्युनिस्ट पार्टी का नाम "सोशलिस्ट पार्टी" था और फिदेल की पार्टी "26 जुलाई मूवमेंट" (M–26–7) के नाम से जाना जाता था। क्रांति के बाद मार्क्सवाद में आस्था रखने वाले सभी संगठनों ने मिलकर क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी बनायी। इसी तरह वियतनाम, कोरिया और पूर्वी योरप के देशों में भिन्न-भिन्न नामों से कम्युनिस्ट पार्टियाँ काम करती रही हैं। रूस में क्रांति सम्पन्न होने के बाद सन् 1919 तक रशियन सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी (RSDLP) काम करती रही। तीसरे इंटरनेशनल के गठन के बाद उद्देश्य की पारिभाषिक स्पष्टता और एकरूपता के लिए कम्युनिस्ट पार्टी का नामकरण प्रचलित हुआ। इसके साथ ही एक रूढ़िवादिता विकसित हुई कि एक देश में एक ही कम्युनिस्ट पार्टी और उसी को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त होगी। लेकिन जिस कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने यह रूढ़िवादिता को जन्म दिया वह स्वयं कालक्रम में प्रासंगिकता खोकर काल कलवित हो गया। फिर भी उसने जिस संस्कार को जन्म दिया उससे हम निजात नहीं पा सके हैं।

अपने देश में 1964 के विभाजन के बाद दर्जनों कम्युनिस्ट पार्टियाँ शक्ल में आयीं। इनमें आज भी प्रत्येक अपने को छोड़कर दूसरे को कम्युनिस्ट मानने को तैयार नहीं है। सभी एक दूसरे को मिटाने के लिये पसीना तो बहाये हैं, और कभी-कभी खून भी। किन्तु यह तथ्य है कि कोई किसी को नहीं मिटा सका। एक दूसरे को पछाड़ने के लिये ये बुर्जुआ पार्टी की मदद स्वीकारते हैं, किन्तु परस्पर मदद नहीं कर सकते। इस रूढ़िवादिता के चलते सबों ने अपनी हड्डी आप चबायी और आगे बढ़ने का भ्रम पाला।

क्या मतभेद थे ?

मतभेद स्पष्ट दीखते थे। एक को 'विधानवादी' कहा गया तो दूसरे को विधानवाद के 'धिक्कारवादी'। विधानवादियों' ने संसदीय मार्ग का अनुशरण किया तो 'धिक्कारवादियों' ने हाथों में लाल झंडा। लाल और लाल

परस्पर विरोधी कारक हैं, जिसका क्रांति से कोई वास्ता नहीं है। ये साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं। संसदवाद में अनिवार्य रूप से अवसरवाद अविच्छेद तत्व के रूप में अंतर्निहित होता है तो बुलेट से निकली सत्ता अनेकानेक अपराधिक लक्षणों को जन्म देती है। अब काफी दिन गुजरे। हमने दोनों रास्तों की यात्राएँ की। मजे चखे। अनेक पापड़ बेलकर हम उस मुकाम पर आ गये हैं, जहाँ से मिलजुलकर चलने का अब एकमात्र रास्ता फूटता है।

क्या यही एकमात्र रास्ता है ?

हाँ, यही एकमात्र रास्ता है—मिलजुलकर चलने का।

एक और मतभेद था। साम्राज्यवाद विरोधी विश्वव्यापी संघर्ष के मुद्दे पर कुछ लोग पंडित जवाहरलाल नेहरू और बाद में इंदिरा गाँधी के कायल थे। ये लोग मिश्र में अब्दुल नासर, इंडोनेशियाँ में सुकर्णो, बंगलादेश में मुजीबुर रहमान और इसी तरह सुडान, इराक, वर्मा, अलजीरिया, नाइजीरिया, कांगो आदि देशों के राष्ट्रीय नेताओं को विश्वव्यापी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का महत्वपूर्ण अंग मानते थे। इरान की कम्युनिस्ट पार्टी (तुदेह) इसी समझ से धार्मिक नेता आयातुल्लाह खुमैनी का समर्थन कर रही थी। आज सब मानते हैं कि इस लाइन का दिवाला पिट गया। मिश्र की कम्युनिस्ट पार्टी कभी अस्तित्व में नहीं आयी और वहाँ अमेरिकी समर्थक सरकार बन गयी। उसने यहूदीवाद से समझौता कर लिया। विशाल जनाधार वाली इंडोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी का कत्लेआम हो गया। वहाँ भी अमेरिकी समर्थक सरकार बन गयी। यही हाल इरान से लेकर सुडान तक हुआ। वह एक युग था, जो अब न रहा।

दूसरी तरफ कुछ लोगों ने माना कि अमेरिका "डूबता हुआ" साम्राज्यवाद है और सोवियत यूनियन "उगता हुआ साम्राज्यवाद"। इन लोगों ने "उगता हुआ साम्राज्यवाद" सोवियत यूनियन को सबसे खतरनाक दुश्मन माना और इस खतरनाक दुश्मन को खतम करने के लिये "डूबता हुआ" साम्राज्यवाद अमेरिका से दोस्ती गाठने की वकालत की।

वास्तविक घटनाओं ने इन सबको कोड़ा बकवास साबित कर दिया। खतरनाक "उगता हुआ साम्राज्यवाद" सोवियत यूनियन का आज नामोनिशान नहीं है और डूबता हुआ साम्राज्यवाद अमेरिका नया यौवन प्राप्त कर संपूर्ण संसार पर छतरा रहा है। इसकी चुनौती देनेवाला कोई बचा नहीं। एक ध्रुवीय दुनिया बनाने का घृणास्पद षड्यंत्र जोड़ों पर है। ऐसे समय में भारतीय

वामपंथ की नियति क्या एक ही नहीं है ? क्रांति का पथ कोई ग्रैंडट्रंक रोड नहीं होता। अनेक सड़कों, सरणियों, नगरों, डगरों और पगडंडियों से जब जनगण व्यवस्था परिवर्त्तन के लिये प्रयाण करते हैं तो वह वाम दिशा ही हो सकती है। जिस प्रकार सात ऋषियों का प्रतीक सप्तऋषि प्रकाशपुंज बनकर आकाश में चमक रहा है, जिस प्रकार सात रंगों के समन्वय से इंद्र-धनुष का मनोहारी दृश्य बनता है, जिस प्रकार सात स्वरों के सरगम से मधुर संगीत बनता है, उसी प्रकार सौ फूल खिलकर सुन्दर बगीचा बनता है और सौ विचार मिलकर सम्यक दर्शन का दिग्दर्शन होता है। जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र को जाती हैं, उसी प्रकार समाज परिवर्त्तन के सभी रास्ते क्रांति तक जाते हैं।

गैरकाँग्रेसवाद

हमारी न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका ब्रिटिश शासन की विरासत हैं। अहम फैसला के हर मौकेपर आज भी ब्रिटिश परम्पराओं को उद्धृत किया जाता है। ऐसा न केवल न्यायपालिका के न्यायाधीश और कार्यपालिका के ब्यूरोक्रैट करते हैं, बल्कि संसद में सांसदगण भी वेस्टमिंस्टर सिस्टम का शास्त्रीय गान करते नहीं अघाते। आजाद भारत के प्रारंभ से ही काँग्रेस और गैरकाँग्रेसवाद का व्यवहार चलता रहा हैं। यह भी ब्रिटिश और अमेरिकन शैली की द्विदल प्रणाली लादने की कोशिश है, जिसमें मजदूर वर्ग की भूमिका को नकार दिया गया है। जहाँ काँग्रेस ने बर्ग सहयोग की रणनीति बनायी, वही गैरकॉग्रेसवाद के प्रणेताओं में कुछ ने वर्ण संघर्ष घोषित किया तो कुछ ने राम भरोसे हिंदू होटल खोला।

वर्ग सहयोग और वर्णविरोध एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक शोषक शासक का खुला सहयोग करता है तो दुसरा शोषितों को आपस में लड़ाता है। वर्ग सहयोग और वर्ण विरोध दोनों ही यथास्थितिवाद का समर्थक है और दोनों ही मजदूर वर्गीय चेतना का विरोध करता है। एक पूँजीवादी शोषण और शासन के लिये मजदूरवर्ग का सहयोग मांगता है और दूसरा इसके लिए समाज के परम्परागत जातीय एवं साम्प्रदायिक विभाजन को सहलाकर उनके समीकरण की अवसरवादी रणनीति आजमाता है। वर्णविरोध मजदूरों और श्रमजीवी जनगण को एक वर्ग के रूप में संगठित होने में बाधाएँ खड़ी करता है और इस प्रकार शोषक श्रेणी की सेवा करता है।

यह समझना भूल है कि ये एक-दूसरे के विरोधी हैं। दोनों ही प्रगति एवं क्रांति के दुश्मन हैं। वर्ग सहयोग और वर्ण विरोध मजदूर वर्ग को सत्ता में

आने से रोकने के लिये पूँजीपतिवर्ग की साझी नीति है। इससे पूँजीपति वर्ग का शासन सुरक्षित होता है। स्वतंत्र भारत में काँग्रेस और गैरकाँग्रेसवाद का प्रयोग और फलाफल इसके प्रमाण हैं। पूँजीपति शासकवर्ग की आजमायी नीति हैं—"बाहर से छेड़ो, अंदर से बिखेड़ो।" मजदूर वर्ग पर लाठी-गोली से हमला बाहरी हमला है और जाति, धर्म, क्षेत्र भाषा के आधार पर बांटना भीतरी हमला है। इनदिनों मजदूर भीतरी हमला से क्षतविक्षत है।

सन् 1952 के प्रथम चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी का संसद में दूसरी पार्टी के रूप में उभरना और 1957 में केरल में कम्युनिस्ट सरकार भारतीय राजनीति में ऐसी घटना है, जिसने पूँजीपति वर्ग को भयभीत कर दिया। "गाँधी जी के चरणों में" शीर्षक पुस्तक में जी० डी० बिड़ला ने लिखा —"अभी तो नेहरू जी हैं, आगे पता नहीं क्या होगा।" बिड़लाजी ने विंस-टन चर्चिल को पत्र लिखकर भारत के विकास के बारे में समाननीति अपनाने की मांग की। उसके बाद ही गैरकाँग्रेसवाद का नारा उछाला गया। इस नारे को जनता का अपार समर्थन मिला। 1977 में जनता पार्टी को सर्वाधिक 63 प्रतिशत मत मिला और पहली मरतबा आम जनता के बहुमत की सर-कार बनी, जिसके प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई हुए। मोरारजी देसाई ने शपथग्रहण करने के बाद ही योजनाओं की छुट्टी कर दी। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों पर लगाम लगायी। एम० आर० टी० पी० कानून में परिवर्त्तन, भूतलिंगम कमीशन की रपट, काला औद्योगिक सम्बन्ध विधेयक आदि तोहफे पूँजीपति वर्ग को भेंट किये गये। नेहरूवादी आत्म निर्भर अर्थव्यवस्था को विदा करने जो सिलसिला 1977 के जनता राज में प्रारंभ हुआ, उसे 1980 में इंदिराजी तथा 1985 में राजीव ने और आगे बढ़ाया। 1989 में वी०पी० सिंह भी पीछे नहीं रहे। उनके उद्योग मंत्री अजित सिंह ने इजारेदारों के पक्ष में उद्योगनीति की घोषणा की। 1991 के मध्य अंततोगत्वा नरसिंह रावजी ने नेहरुवाद को अंतिमतौर पर दफन कर किया। जाहिर है, आजाद भारत की सभी काँग्रेसी और गैरकांग्रेसी सरकारों ने पूँजीवाद को बढ़ावा दिया और मजदूरवर्ग के ट्रेडयूनियन अधिकारों तथा आमजनता के जनवादी अधिकारों पर निरंतर अंकुश लगाये! जनता के मानस पटल पर सब कुछ अमिताभ बच्चन और राजबब्बर शैली की मार-धार की सुपरहीट फिल्म की तरह अंकित है। इस बीच गरीबी हटाओ, बीस सूत्री, नयी आर्थिकनीति आदि के कवचकुण्डल; सामाजिक न्याय का छलावरण, राम भरोसे हिन्दू होटल, मडल-कमडल और न जाने कितने अक्सर्टा नाचों का आनन्द देश ने

लिया है। नानाभेषधारी पूँजीपति वर्ग ने निरंतर जनता को छला है, मजदूरों को तोड़ा है।

मंडल छलावरण

घटनाक्रम पर नजर रखनेवाले जानते हैं कि 1989 के लोकसभा चुनाव में बोफोर्स भ्रष्टाचार प्रमुख मुद्दा था, जिसके बारे में वी० पी० सिंह ने अपनी प्रत्येक चुनाव सभा में संकल्प दुहराया कि वे सरकार में आने पर सात दिनों के अन्दर घूस (Kick back) लेनेवाले का नाम बतायेंगे। वी० पी० सिंह सरकार में आये भी। वे गये भी। आज भी यदाकदा वे मुँह खोलते हैं। किन्तु बोफोर्स अपराधियों का नाम वे सदा सर्वदा के लिए भूल गये।

इसी तरह मंडल कमीशन रा० मो० के चुनाव घोषणापत्र के आश्वासनों की लम्बी सूची में एक अवश्य था। किन्तु ज०द० के किसी नेता ने इसे 1989 के चुनाव का मुद्दा नहीं बनाया। चुनाव भाषणों में यदा-कदा ही किसी-किसी ने चलते-चलाते इसकी चर्चा की। लेकिन जब उपप्रधानमंत्री देवीलाल ने वी० पी० सिंह को प्रधानमन्त्री की कुर्सी से हटाने का निश्चय कर लिया तो कुर्सी बचाने के लिये वी० पी० को 'मंडल' याद आया।

फिर बड़ा उछाला गया नौकरी में "आरक्षण" मुद्दे को। मंडल आयोग की सिफारिशों के भूमि सुधार जैसे अन्य मुद्दे सुविधापूर्वक भुला दिये गये। ज० द० में वी०पी० + रामविलास + लालू सामाजिक न्याय के सबसे बड़े चैम्पियन थे। इन तीनों में लालूजी ज्यादा शक्तिशाली हैं। इन्होंने कार्यरत कर्मचारियों की छटनी की, सरकारी कारखानों को बन्द किया, आरक्षण के अवसर बढ़ाने के बजाए इन्होंने आरक्षण मुद्दे को ही सत्ता में भागीदारी से बदल दिया। आरक्षण मुद्दा पृष्ठभूमि में चला गया। सत्ता में भागीदारी अहम हो गया। कमजोर वर्ग को सत्ता में भागीदारी के लिये जरूरी हो गया लालूजी का सत्ता में बने रहना। और लालूजी को सत्ता में बने रहने के लिये जरूरी हो गया मुस्लिम-यादव (MY) गठबंधन। हरिजन-पिछड़ा मुस्लिम-आदिवासी के पुराने समीकरण का स्थान इस नये समीकरण (MY) ने ले लिया।

इस तरह सामाजिक न्याय का संपूर्ण आयाम लालू प्रभामंडल में तिरोहित हो गया। सामाजिक न्याय की उदात्त भावना का सारथि गद्दी हथिया कर जातपाँत की कीचड़ में पतित हो गया। मंडल न्याय सत्ता-लोलुपों का छलावरण बन गया।

लालू सरकार में पिछली किसी भी सरकार के मुकाबले ज्यादा हरिजनों की हत्याएँ हुई हैं और हत्यारों में ज्यादा संख्या सामाजिक न्याय की धूरी समझी जानेवाली जाति की है। अब इन सामाजिक न्यायवादियों के अन्याय का कौन मुकाबला करेगा? लालूजी कहते हैं कि पहले भी हरिजनों की हत्याएँ होती थी, भ्रष्टाचार होते थे। तो क्या नयी सरकार बनाने का उद्देश्य उन हत्याओं और भ्रष्टाचार को कायम रखना है? बढ़ाना है? इन प्रश्नों का उत्तर मजदूर वर्ग को देना है। आखिर सामाजिक न्याय का नारा तो मजदूर वर्ग का मौलिक नारा है। जल्लादों के हाथों में सामाजिक न्याय का दम घोंटा जा रहा है तो मजदूर वर्ग को हस्तक्षेप करना ही होगा।

तमाम अवसादों के बावजूद सन् 1989 तक भारतीय मजदूर वर्ग का तेवर निःसंदेह आक्रामक था। 1948 के प्रथम विभाजन और बाद में पार्टी आधार पर एक दर्जन विभाजनों की पीड़ा के बावजूद मजदूर वर्ग के उत्साह में कमी नहीं आयी थी। हर विभाजन में मजदूरों ने नयी मंजिल की तलाश का नया उत्साह पाया था। उत्साहित मजदूर वर्ग के अलग-अलग धड़ों ने अनेक बहादुराना संघर्ष किये, हड़तालें की और कामयाबियाँ हासिल की। बैंक, रेलवे, पोस्टल, टेलीग्राफ, कपड़ा मिलों आदि सरकारी एवं गैरसरकारी कर्मचारियों के शानदार संघर्ष हमेशा याद किये जायेंगे। इन जुझारू संघर्षों के लंबे दौर में मजदूरों ने स्थानीय संघर्षों की सीमाओं को जाना और व्यापक संयुक्त संघर्ष की आवश्यकता महसूस की।

20 नवम्बर 1978 भारतीय मजदूर वर्ग के इतिहास में मिल का पत्थर है। इसीदिन काला औद्योगिक सम्बन्ध विधेयक के खिलाफ संसद के समक्ष लगभग संपूर्ण मजदूर वर्ग का विशाल प्रदर्शन हुआ। इसी ऐतिहासिक दिन को 1948 और बाद की सभी फूटों को भूला-बिसराकर संपूर्ण मजदूर वर्ग ने वर्ग शत्रु के खिलाफ सर्वप्रथम संयुक्त प्रदर्शन किया। तत्कालीन सरकार पीछे हटी। उसने औद्योगिक सम्बन्ध विधेयक वापस ले लिया।

राष्ट्रीय अभियान समिति

भारतीय मजदूर वर्ग का 1978 में एक मंच पर आना सर्वाधिक महत्व की घटना है। यह स्वातंत्र्योत्तरकाल के 30 वर्षों के अनुभव का निचोड़ था।

इमरजेंसी के काले दिनों के बाद 1977 में जनता पार्टी लोकतंत्र की लहर पर सवार होकर सत्ता में आयी। इस सरकार ने जिन नीतियों पर अमल किया, उसका सारांश निम्न प्रकार है—

1. विदेश मामलों में—
तटस्थता (निर्गुट) की नीति के स्थान पर "सच्ची तटस्थता"। निर्गुट आंदोलन, जो नेहरू जी के जमाने से चला आ रहा था, उसे सोवियत-पक्षी समझा गया। "सच्ची तटस्थता" का मतलब था, वह तटस्थता, जो विकासमान देशों के प्रश्नों पर सोवियत गुट की ओर झुका था, उसे सीधा करना। जाहिर है, यह अमेरिकन गुट की ओर झुकने का प्रारंभ था।

2. घरेलू मामलों मे---
सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के महत्व को कम करना, निजी क्षेत्र का मूलक्षेत्र में प्रोत्साहन, पश्चिमी विशेषज्ञों को न्योता, भूतलिंगम समिति आदि

3. राजनीतिक मामलों मे —
लोकतंत्र के द्विदल प्रणाली का प्रयोग। यह कांग्रेस और गैरकांग्रेसवाद की राजनीति को औपचारिक बनाना था।

4. ट्रेडयूनियन और जनवादी अधिकारों में कटौती—
काला औद्योगिक सम्बंध बिल, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में मजदूरों पर गोली चालन, बिहार एवं अन्य प्रांतों में जनवादी अधिकारों में कटौती के नये कानून

यह भारतीय राजनीतिक अर्थतंत्र का दक्षिणपंथी झुकाव था। ट्रेडयूनियन और जनवादी अधिकारों में कटौती इस दक्षिणपंथी राजनीति का तकाजा था। पूँजीपति वर्ग के इस नये हमले के विरुद्ध सबसे पहले मजदूर वर्ग सचेत हुआ और इस प्रकार वर्गीय एकता की शुरुआत हुई। मजदूर वर्ग और आम जनता के सम्मिलित प्रतिरोध के सामने जनता पार्टी टूट गयी। जनता पार्टी सरकार अपना कार्यकाल पूरा किये बगैर कालकवलित हो गयी।

1980 के चुनाव में श्रीमति इंदिरा गांधी पुनः सत्तासीन हो गयीं। अपेक्षा की जाती थी कि इंदिरा जी पिछली जनता सरकार की नीतियों में परिवर्त्तन करेंगी। किंतु ऐसा उन्होंने नहीं किया। उन्होंने उन दक्षिणपंथी नीतियों को आगे बढ़ाया, जिसे पिछली जनता सरकार ने निर्धारित किया था। अं० मु० कोष की शर्तों पर विश्व बैंक से कर्ज, एम० आर० टी० पी० एवं अन्य कानूनों में संशोधन, उदारीकरण, नई तकनीक आदि नारे उछाले गये। ट्रेडयूनियन कानूनों में संशोधन और नया सम्यक औद्योगिक सम्बन्ध बिल संसद में पेश किया गया।

फिर मजदूर वर्ग ने उसका तीव्र विरोध किया। 19 जनवरी 1982 की राष्ट्रव्यापी आम हड़ताल और भारत बंद ने इंदिरा जी के सिंहासन को डगमगा दिया। उन्होंने इसे राजनीतिक हड़ताल की संज्ञा दी। यह हड़ताल 4 जून 1981 के बंबई कनवेंसन के आवाहन पर की गयी थी। इस कन-वेंसन ने अपनी मांग में किसानों और खेतिहर मजदूरों की समस्याओं को शामिल किया था। महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार आदि जनता की आम समस्याएँ मजदूर वर्ग की माँगों में पहली मरतबा राष्ट्रीय पैमाने पर शामिल हो गयीं।

राष्ट्रीय अभियान समिति (एन० सी० सी०) के बैनर में अनेक राष्ट्र-व्यापी कार्रवाइयाँ हुईं, जिनमें श्री राजीव गांधी मंत्रिमंडल के वित्तमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह के द्वारा प्रस्तुत बजट और घोषित वित्त नीति के खिलाफ 20 जनवरी 1987 का अखिल भारतीय औद्योगिक हड़ताल और भारत बंद उल्लेखनीय है। 9 दिसम्बर 1987 को "गद्दी छोड़ो" नारे के साथ दिल्ली मार्च ने राजीव गांधी सरकार की बुनियाद हिला दी। 15 मार्च 1988 का भारत बंद निर्णायक महत्व का साबित हुआ। मजदूर वर्ग की इन कार्रवाइयों ने भारतीय राजनीति को दिशा दी। 1989 के चुनाव में कांग्रेस (इ) हार गयी। जनता दल की सरकार बनी।

इस तरह 1978 में ट्रेड यूनियन एवं जनवादी अधिकारों की रक्षा में मजदूर वर्ग का जो संयुक्त आंदोलन शुरू हुआ, उसकी परिणति 1989 में कांग्रेस (इ) सरकार की पराजय में हुई। मजदूर वर्ग के संयुक्त संघर्ष के इस दौर में दो सरकारों को पराजय का मुंह देखना पड़ा। 1979 में जनता पार्टी सरकार गिर गयी और 1989 के चुनाव में कांग्रेस (इ) पिट गयी। मजदूर वर्ग की सफल आक्रामक कार्रवाइयों से पूँजीपति वर्ग बेचैन हो उठा। मजदूर वर्ग की बढ़ती एकता उसकी घबराहट का कारण थी। उसने सरकार पर नया डोरा डाला और साम्प्रदायिक एवं जातीय उन्माद का घृणित इन्द्रजाल बुनकर जन संघर्ष को बेराह करने का षड्यंत्र रचा।

प्रधानमंत्री वी० पी० सिंह ने उपप्रधानमंत्री देवीलाल की चुनौती का मुकाबला के लिये 'मंडल' ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया तो लालकृष्ण आडवाणी ने जनता दल के घरेलू झगड़े का फायदा उठाने और सत्ता पर एकछत्र कब्जा जमाने का सुनहला सुअवसर का अहसास कर 'जय श्रीराम' का उद्घोष किया। सबकी परिणति फिर एक चुनाव में हुई। फलस्वरूप देश को एक

ऐसा त्रिशंकु पार्लियामेंट मिला जिसमें किसी दल का बहुमत नहीं था। संसद की सबसे बड़ी पार्टी के नेता नरसिंह राव प्रधानमंत्री बने। दूसरे नंबर की पार्टी भा०ज०पा० ने विपक्ष की कुर्सी हासिल की। यू० पी०, राजस्थान, हिमांचल और मध्य प्रदेश में भा०ज०पा० की सरकार बनी। देश के पूँजीपतियों ने उत्सव मनाया।

रामो + वामो पिछड़ गया। यह राष्ट्रीय विकल्प नहीं बन सका। मंडल आयोग की सिफारिशें राष्ट्रीय विकल्प के कार्यक्रम का स्थान नहीं ले सकती थीं। यह जनता दल के अन्दर नेताओं के आपसी झगड़े में एक दूसरे को पछाड़ने का साधन अवश्य बन गयी। जिस तरीके से मंडल आयोग की सिफारिशों में केवल एक प्रावधान आरक्षण को लागू करने की आपातकालीन घोषणा की गयी, उससे तोड़-फोड़ को प्रोत्साहन मिला। सरकार में बैठे लोग इस तरह बोलते थे कि मानो वे युद्ध कर रहे हों। वे किससे युद्ध कर रहे थे? देवीलाल + चन्द्रशेखर से? या जनता से? सब जानते हैं, जनता दल के अंदर मंडल मुद्दे पर रामकृष्ण हेगड़े, बीजू पटनायक, जार्ज फर्नांडिस आदि के वही विचार नहीं थे, जो वी०पी० + लालू + रामविलास के थे।

इसी तरह उद्योग नीति के मुद्दे पर वी० पी० + अजित एक तरह से सोचते थे तो चन्द्रशेखर + जार्ज बिल्कुल दूसरी तरह से। उद्योगमंत्री अजित सिंह द्वारा घोषित उद्योग नीति तो राजीव गांधी की 'इक्कीसवीं सदी' नीति का विस्तार थी। पंजाब, कश्मीर आदि प्रश्नों पर भी जनता दल के राष्ट्रीय नेताओं के समान विचार नहीं थे। सब ढ़ाक के तीन पात। यहाँ तक कि अयोध्या मुद्दे पर भी समान दृष्टिकोण का अभाव था।

राष्ट्रीय मोर्चा का घोर अंतकलह, दिशाविहीनता और कार्यशून्यता ने जनता की आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के निकम्मापन ने, यही नहीं कि जनता की आशाओं पर तुषारापात कर दिया, बल्कि इसने मौजूदा प्रतिगामी आर्थिकनीति के लिये उर्वर आधार तैयार कर दिया।

इसीलिये वामदल राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को बचाना चाहते थे। वे 1979-80 की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के गिरने से उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक शून्यता का लाभ प्रतिगामी शक्तियों को मिलना अवश्यम्भावी था। लेकिन दुर्भाग्य से जनता दल के राष्ट्रीय नेतागण व्यक्तिगत राग-द्वेष में इतने अंधे हो गये थे कि उनकी राष्ट्रीय दृष्टि जाती रही। इन्होंने अपने ही साथियों को नीचा दिखाने के लिये सरकारी ओहदे का

दुरुपयोग किया। वामदल के बचाये वह सरकार नहीं बच पायी। सरकार अपने ही अन्तर्कलह में डूब मरी।

प्रतिरक्षात्मक स्थिति

वी० पी० सिंह सरकार से जनता को बड़ी अपेक्षाएँ थी। किन्तु जनता दल के अन्तर्कलह ने ही उसे गिरा दिया। कांग्रेस (इ) की बैशाखी पर चन्द्रशेखर प्रधानमंत्री बने। जल्दी ही वह बैशाखी टूट गयी। मध्यावधि चुनाव घोषित हुआ। चुनाव अभियान के दौरान ही लिट्टे उग्रवादियों द्वारा कांग्रेस (इ) अध्यक्ष राजीव गांधी की नृशंस हत्या कर दी गयी। असामान्य परिस्थिति के कारण चुनाव कुछ सप्ताहों के लिये स्थगित हो गया। फिर जो चुनाव हुआ, उसके परिणामों पर सहानुभूति लहर का प्रभाव था। कुल मिलाकर देश को फिर एक त्रिशंकु संसद मिली। यद्यपि संसद में बहुमत किसी दल का नहीं था, किंतु सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस (इ) थी। उसे सरकार बनाने का अवसर मिला। नरसिंह राव प्रधानमंत्री बने। इन्होंने मध्य जुलाई 1991 में अपनी तथाकथित नयी आर्थिकनीति की घोषणा की। यह राष्ट्रीय अर्थतंत्र को पूरी तरह दक्षिणपंथी प्रतिगामी पथ पर ले चलने का राजनीतिक एलान था। 1977 में जनता पार्टी राज ने राष्ट्रीय अर्थतंत्र को दक्षिणपंथी मोड़ दिया था। 1991 में कांग्रेस (इ) ने दक्षिणपंथी मार्ग वरण कर लिया। इतिहास बनाने का जो मौका 1989 में रामो-वामो को मिला, उसे गवाँ दिया गया।

कांग्रेस के इतिहास में यह वह प्रस्थान विंदु है, जहाँ से कांग्रेस (इ) राजनीतिक अर्थतंत्र के मध्य मार्ग को छोड़कर दक्षिणपंथ को वरण करती है। दक्षिणपंथी भारतीय जनता पार्टी समेत एकाधिकार पुँजीपति वर्ग ने नयी आर्थिकनीति का स्वागत किया। जनता के प्रबल विरोध को देखते हुए यद्यपि कतिपय भा०ज०पा० नेता विरोध का स्वर निकालते हैं, जो असल में जनमत भरमाने के लिये महज शैडोवाक्सिग है। यही कारण है कि भारतीय मजदूर संघ नई आर्थिकनीति के खिलाफ चल रहे संयुक्त संघर्ष से अलग हो गया है।

भारतीय राजनीति में 1989–91 के तीन वर्ष काफी उथल-पुथल के थे। इस अवधि में दो संसदीय चुनाव और अनेक विधान सभाओं के चुनाव हुए। चुनाव परिणाम भी रोमांचकारी थे। पंजाब और जम्मू-कश्मीर में आतंकवादी कार्रवाइयाँ दिल दहला रही थी तो देश के अन्य भागों में मंडल-कमंडल युद्ध चल रहा था।

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति तो और भी रोमांचकारी थी। उसने सब कुछ उलट-पुलटकर रख दिया। सोवियत यूनियन में मिखायल गोर्बाचेव का

पुनर्नवीकरण (परेस्त्रोयका) ने पूँजीवाद को पुनर्जीवित किया और पूर्वी यूरोप की कम्युनिस्ट सरकारों को ध्वस्त कर दिया। इसकेलिये मिखायल गोर्बाचेव को नोबल पुरस्कार से सम्मानित किय गया। साम्राज्यवाद उनकी प्रशंसा के तराने गाने लगे। घोषित कर दिया गया—"इतिहास का अंत"।

इराक युद्ध के बाद विजयी अमेरिका के विजयी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने नयी विश्व अर्थव्यवस्था रचने की एकतरफा घोषणा की। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूँजीवाद के मुकाबले जो समाजवादी विश्व अर्थव्यवस्था उभरी थी, वह खतम हो गयी। इस शून्यता को भरने के लिये एक ध्रुवीय विश्व अर्थ-व्यवस्था की भूमंडलीकरण योजना का एलान हुआ। सार्वजनिक उद्योग के निजीकरण का विश्वव्यापी पागल दौर प्रारंभ हुआ।

सोवियत यूनियन का बिखराव और पूर्वी योरप में कम्युनिस्ट सरकारों का पतन, सत्ता-परिवर्त्तन का रोजाना नाटक नहीं था, जैसा बुर्जुआ चुनावों में एक पार्टी से दूसरी पार्टी के हाथों में सत्ता के हस्तांतरण में हुआ करता है। यह एक विचारधारा से सम्बन्धित घटना थी। मजदूर वर्गीय सर्वहारा दर्शन पर आधारित सत्ता और उसकी सरकारों के पतन ने दुनिया भर के मजदूरों को झकझोड़ दिया। अगर इन सरकारों को इन सरकारों के दुश्मनों ने गिराया होता तो बात दूसरी थी। लेकिन यहाँ तो घर में आग लगी घर के चिराग से। इस घटना ने दुनिया भर के शोषकों का मन बढ़ाया और शोषितों का मन गिराया।

भारतीय मजदूर वर्ग भी इन घटनाओं से हतप्रभ हुआ। राष्ट्रीय परि-स्थिति में जनता दल सरकार का शर्मनाक पतन और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं में सोवियत यूनियन का बिखराव तथा पूर्वी यूरोप की कम्युनिस्ट सरकारों का खात्मा, सन् 1989-91 के तीन वर्षों की ऐसी घटनाएँ हैं, जिसने भारतीय मजदूर वर्ग का मनोबल तोड़ा है। जनता दल सरकार को बनाने में मजदूरों की भागीदारी थी और सोवियत यूनियन मजदूर वर्ग की प्रेरणा का स्तंभ था। दुनिया भर का मजदूर वर्ग सोवियत यूनियन को अपने आदर्शों का अजेय स्तंभ स्वीकारता था। वह अजेय स्तंभ धराशायी हो गया। इससे मजदूर वर्ग की सिद्धांत निष्ठा को गहरा धक्का लगा। यह वह पृष्ठभूमि थी, जिसमें नई आर्थिक नीति की घोषणा हुई। पूँजीपति वर्ग ने तब आक्रमण किया जब मजदूर वर्ग प्रतिरक्षात्मक स्थिति में था।

अंतर्राष्ट्रीय संशोधनवाद

आजादी के बाद के प्रथम दसक में मजदूर आंदोलन में विभाजन का कारण था भारत के नये शासक काँग्रेस दल के चरित्र विश्लेषण का मतभेद। मजदूर वर्ग के एक बड़े हिस्से में नये शासक के पक्ष में व्यामोह व्याप्त था। साठ के दसक में वाम मजदूर संगठनों में विभाजन का कारण बना विधानवादी संसदीय भटकाव और कतिपय अतिवाम उग्रवादी रूझान। स्वातंत्र्योत्तर काल के दूसरे और तीसरे दसक का भारतीय मजदूर आंदोलन उस काल के विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन की अन्तर्राष्टीय घटनाओं से भी अप्रभावित नहीं था।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की 20 वीं काँग्रेस में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांत को शांतिपूर्ण प्रतियोगिता और फिर सहयोग में बदल दिया गया जिसकी परिणति गोर्बाचोव काल में "परस्पर निर्भर समाकल विश्व" की मृग मरीचिका में हुई। 28 वीं पार्टी काँग्रेस में साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष की तिलांजली दे दी गयी। इस काँग्रेस ने पार्टीसंविधान में संशोधन करके साम्राज्यवाद विरोधी कार्यक्रम को ही विलोपित कर दिया। ख्रुश्चेव के नेतृत्व में 20 वीं काँग्रेस में पारित वर्ग सहयोग पर आधारित संशोधनवादी लाइन का यह लाजिमी नतीजा था। 28वीं कांग्रेस सो० क० पा० की अंतिम कांग्रेस साबित हुई।

20 वीं पार्टी काँग्रेस के नेताओं ने कम्युनिज्म में प्रवेश की बीससाला योजना की घोषणा कर दी। यह शुद्ध लफ्फाजी थी। 20वीं काँग्रेस के नेता भूल गये कि साम्राज्यवाद के रहते कम्युनिज्म की स्थापना नहीं हो सकती। एक देश में समाजवाद का निर्माण संभव है, किंतु एक देश में साम्यवाद का निर्माण असंभव है। लेकिन संशोधनवादी लाइन को आगे बढ़ाने के लिये यह लफ्फाजी जरूरी थी। नये मानव के निर्माण का प्रश्न पीछे छुट गया। प्रचुर उत्पादन और वितरण की उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास किया गया। उपभोक्तावादी संस्कृति मूल रूप में पूँजीवादी विकृति है।

ब्रेझनेव काल में और आगे बात बढ़ी। सरकार में पार्टी का विलय कर दिया गया। फलस्वरुप भ्रष्ट अफसरशाही और माफिया तंत्र का उदय हुआ।

मार्क्स-ऐंगेल्स की प्राथमिक शिक्षा है कि उत्पादन की उत्पादक शक्तियाँ अत्यंत गतिशील और क्रांतिकारी होती हैं। समाजवाद के अंदर भी ये शक्तियाँ निर्विवाद रुप से उत्पादन-सम्बन्धों के मुकाबले तीव्रतर गति से आगे

बढ़ती हैं। इसलिये समाजवाद के उत्तरोत्तर विकास क्रम में उत्पादक-शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों में टकराव की समस्या विद्यमान रहती है। सन् 1952 की 19वीं पार्टीकाँग्रेस में समाजवाद के प्रथम रचयिता स्तालिन द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन में सोवियत व्यवस्था में उत्पन्न हो रहे इस टकराव को अंकित किया गया है। स्तालिन ने सचेत किया—"हमारी शक्तिशाली उत्पादक शक्तियों के विकास में इन कारकों (उत्पादन सम्बन्धों) ने अभी से बाधाएँ खड़ी करना प्रारंभ कर दिया है, जिसे न देख पाना अक्षम्य अंधापन होगा।" (सोवियत यूनियन में समाजवाद की समस्याएँ, पृष्ठ 76) स्तालिन ने अधिकारिक तौर पर चेतावनी दी—"इन टकरावों का समाधान समय रहते नहीं किया गया तो इसके विनाशकारी परिणाम होंगे।" स्तालिन बुढ़े हो चुके थे। 19 वीं पार्टी काँग्रेस में सिर्फ इसी प्रतिवेदन को पेश करने के लिये वे मंच पर केवल एक बार खड़े हुए थे। बाकी पूरे समय वे बैठे रहे। इससे इस प्रतिवेदन के महत्व का पता चलता है। स्तालिन की चेतावनी को स्तालिन के उत्तराधिकारियों ने भुला दिया। उसके विनाशकारी परिणाम भुगतने पड़े।

निकिता ख्रुश्चेव ने अपने अपराधों पर पर्दा डालने के लिये स्तालिन-विरोध का अभियान चलाया। यही काम किया मिखायल गोर्बाचेव ने। स्तालिन-विरोध व्यवहार में समाजवाद का निषेध साबित हुआ। ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव-गोर्बाचेव काल के 35 वर्ष वर्ग सम्बन्ध की मार्क्सवादी अवधारणा का शनैं-शनैं परित्याग और वर्ग सहयोग के पूँजीवादी दर्शन के अनुशरण का काल है। सन् 1917 की अक्तूबर क्रांति के बाद के चालिस वर्षों में जिस समाजवाद का निर्माण हुआ, उसे ध्वस्त करने में 35 वर्ष लगे। यह काम समाजवाद के दुश्मनों ने नहीं किया, बल्कि वहाँ की एकमात्र राजनीतिक पार्टी के 'कम्युनिस्ट' कर्णधारों ने सोवियत राजनीतिक अर्थतंत्र में शंखिया जहर घोलकर खुदकशी के लिये मजबूर कर दिया। इस पर संसार भर के पूँजीवादी खेमा में खुशियाँ मनायीं गयीं।

चीन के त्येन-अन-मन चौक पर हुई गोलाबारी पर साम्राज्यवादियों ने बड़ा शोर मचाया। मानवाधिकार का मामला उठाया गया। किंतु बोरिस यल्तसिन ने जब मास्को संसद भवन को टैंकों से रौंद डाला और भयंकर रक्तपात किया तो इन भद्रजनों का बकार बन्द हो गया। मास्को की सड़कों पर खून की दरिया बहाने की यल्तसिनी दरिंदगी देखकर दुनिया का दिल दहल गया। किंतु उन भद्रजनों की जुबान पर ताला लग गया, जिन्होंने त्येन-

अन-मन चौक पर मानवाधिकार का मामला उठाया था। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि त्येन-अन-मन में समाजवाद की रक्षा हुई थी और मास्को में समाजवाद की हत्या। साम्राज्यवादी जल्लाद समाजवाद के खून के प्यासे थे। इसने समाजवाद को खून में डुबोकर अपनी प्यास बुझायी।

विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन की अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन पर गहरा प्रभाव डाला। विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के मतभेदों ने भारतीय कम्युनिस्टों को बुरी तरह विभाजित कर दिया। कुछ ने संसदीय मार्ग का अनुशरण किया तो कुछ ने संसदीय मार्ग को पूरी तरह धिक्कार दिया। लेकिन अब हम काफी लंबा रास्ता चलकर सयाने हो गये हैं। अब यह दिन के उजाले की तरह स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय संशोधनवाद ने सोवियत यूनियन समेत पूर्वी युरोपीय देशों में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना कर दी है और भारतीय विधानवादी संसदवाद ने क्रांतिकारी मजदूर वर्ग को पूँजीवादी पथ पर भटकाया है।

मजदूर वर्ग किसी बुर्जुआ सरकार का बेशर्त्त समर्थन नहीं कर सकता। एक बुर्जुआ सरकार को 'इमरजेंसी' अधिकार देने का मजा हम खा चुके हैं। बुर्जुआ सरकार का बेशर्त्त समर्थन मजदूरों के मुँह पर लगाम लगाता है और पैरों में बेड़ी। हम बोलते हैं तो कोई विश्वास नहीं करता और पैर पटकते हैं तो लोग इसे 'नाटक' समझते हैं। लोगों की निगाह में हमारी साख गिरती है। बुर्जुआ वर्ग से अलग हमारी स्वतंत्र पहचान मिटती है। बुर्जुआ सरकार का बेशर्त्त समर्थन परले सिरे का संसदीय अवसरवाद है, जो क्रांतिकारी चरित्र को कलुषित करता है। यह संशोधनवादी रूझान है, जो मजदूर वर्ग को बेराह करता है और वर्ग संघर्ष के क्रांतिकारी पथ से भटका कर वर्ग सहयोग के पूँजीवादी पथ का पथिक बनाता है। संशोधनवाद और संसदवाद मजदूर आंदोलन में खांटी पूँजीवाद है। यह मजदूरों की 'राजनीतिक वर्ग चेतना को कुंद करता है और पूँजीपति वर्ग की सेवा करता है।

पूँजीपती वर्ग ने उलट-पुलटकर स्वयं ही राज करने की नीयत से शासन की द्विदल प्रणाली विकसित की है। यह 'चित्त भी हमारा-पट भी हमारा' का खेल है। इस द्विदल प्रणाली में दो बुर्जुआ घटक होता है। मजदूर वर्ग का इनमें कोई मित्र नहीं होता। मजदूर वर्ग को स्वयं विकल्प बनना होगा। बुर्जुआ दलों की पूँछ पकड़कर बैतरणी पार नहीं की जा सकती। इसे अपने ही बल-बूते पर तैरना होगा। मजदूर संगठनों को भी लंगीमार आपसी युद्ध और बुर्जुआ कृपा से आगे बढ़ने के कौशल त्यागने होंगे। एकीकृत मजदूर

आंदोलन और तमाम श्रमजीवी जनगण की एकता की धूरी पर वाम जनवादी मोर्चा पूँजीवाद का सार्थक विकल्प सिद्ध होगा। मजदूरों, किसानों और मिहनतकसों की यह एकता समझौताविहीन प्रचंड संघर्षों के उत्ताल तरंगों के बीच निर्मित होगी। भविष्य मजदूर वर्ग की इस ऐतिहासिक भूमिका की बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहा है।

नयी आर्थिक नीति

विदेशी कर्ज 1979 में ही संकट का रूप ग्रहण कर चुका था, जब कर्ज की रकम 23,787 बिलियन अमेरिकी डालर हो गयी। 1982 में प्रथम बार अ० मु० को० से कर्ज लिया गया और बहुचर्चित उदारीकरण की अनुमति दी गयी। राजीव गाँधी शासनकाल में इक्कीसवीं सदी में प्रवेश के नाम पर अंधाधुन्ध अविवेकपूर्ण आयात को बढ़ावा दिया गया, जिसके चलते विदेशी मुद्रा भंडार घटकर खतरनाक स्थिति में नीचे पहुँच गया। विदेश व्यापार का बढ़ता घाटा ने संकट को और भी बढ़ा दिया। 1980-81 और 1990-91 के बीच आंतरिक कर्ज भार पांच गुना बढ़ गया और इसके साथ ही विदेशी कर्ज भार भी इसी अनुपात में बढ़ा। विश्व बैंक+अमुकों के निदेशों के अनुपालन के चलते संकट गहराता गया और वह सत्यनाशी तोड़फोड़ की सीमा तक पहुँच गया।

इस सत्यनाशी तोड़फोड़ से बचा जा सकता था। आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को सामने रखकर घरेलू राष्ट्रीय संसाधनों का विकास और जनहित के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जाता। विदेशी सहायता को राष्ट्रीय कार्यक्रमों के साथ तादात्म बैठाकर लाभ उठाया जा सकता था। किन्तु ऐसा कुछ नहीं मिल गया। उल्टे विदेशी कम्पनियों के लिये देश का घरेलू बाजार खोल दिया गया। फलस्वरूप विदेशी मुद्रा भुगतान संतुलन, जो पहले ही असंतुलित हो गया था, अब विदेशी कर्ज के अन्तहीन फंदे में फंस गया। यही नहीं, रुपये का २३ प्रतिशत अवमूल्यन किया गया। इससे विदेशी ऋण का भार एकही झटके में कई गुना और बढ़ गया। यही कारण है कि 1993–94 में कुल प्रतिरक्षा बजट (23 हजार करोड़ रुपये) का दुगुना 46 हजार करोड़ रुपये विदेशी-ऋण के सूद भुगतान में खर्च किये गये।

अब भारत पूरी तरह बिश्व बैंक+अमुको की चपेट में आ गया। विश्वबैंक + अमुको पर अमेरिकी वर्चस्व है। सोवियत यूनियन और समाजवादी देशों के विखड़ने के बाद राष्ट्रसंघ एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियाँ अमेरिकी इशारे पर नाचनेवाली कठपुतलियाँ हैं। अमेरिका और अन्य बड़े राष्ट्रों ने अपने देशो की मंदी से निजात पाने के लिये भूमंडलीकरण का नारा दिया है। निर्भुट आंदोलन के देश (समूह–77) असमान विश्व

व्यापार को न्याय संगत बनाने के लिये पहले से ही नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली (NIEO) विकसित करने की मांग कर रहे थे। इसका उद्देश्य तीसरी दुनिया की विशाल कृषि सम्पदा और अजस्र प्राकृतिक खनिज, तेल, आदि का उचित दाम प्राप्त करना था। इसके विपरीत विकसित राष्ट्रों (समूह–7) ने अपनी भूमंडलीय योजना प्रस्तुत की, जिसका उद्देश्य पिछड़ों को हमेशा पिछड़ा बनाकर रखने तथा तीसरी दुनिया के देशों को अपने लिये कच्चा माल प्राप्त करने का क्षेत्र और पक्के माल को बेचने का बाजार सुनिश्चित करना है। इसके लिये वे समूची दुनिया के अर्थतंत्र में ढांचागत परिवर्त्तन की मांग कर रहे हैं। साम्राज्यवादियों की आवश्यकताओं के अनुरूप विकासमान देशों के राष्ट्रीय अर्थतंत्रों में और विश्वव्यापार में ढांचागत परिवर्त्तन को भूमंडलीकरण (globalisation) के रूप में सूत्रबद्ध किया गया है। इस ढांचागत परिवर्तन का उद्देश्य भारत सहित विकासमान देशों की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को पलट कर साम्राज्यवादी देशों पर निर्भर अर्थतंत्र का निर्माण करना है।

इसलिये यह भारत सरकार की नयी आर्थिकनीति नहीं है, बल्कि यह साम्राज्यवादियों की पुरानी आर्थिकनीति है, जिसका लंबा प्रयोग लातिन अमेरिकी देशों में हो चुका है। उसके परिणामों से सभी परिचित हैं। ब्राजिल, पेरु आदि देश न केवल कर्ज के अनंत फंदे में फंस चुके हैं, बल्कि वहाँ लोकतंत्र, आजादी, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक अस्मिता ही चौपट हो गयी है। अमेरिकी हितों की रक्षा के नाम पर अमेरिका उन देशों के घरलू मामलों में हमेशा बेजा दखलंदाजी करता रहता है।

इस साम्राज्यवादी योजना का बड़े तामझाम से सुन्दर प्रयोग रूस एवं पूर्वी योरप के देशों में हुआ, जहाँ पहले कम्युनिस्ट सरकारें थीं। हाल के चुनावों में पोलैंड, लिथुनिया, हंगरी, रोमानिया, बुलगारिया आदि देशों में पुराने कम्युनिस्ट नये कलेवर में जीतकर आये हैं। ये इस बात के सबूत हैं कि 'इतिहास का अन्त' नहीं हुआ है, प्रत्युत नया इतिहास प्रारंभ हो रहा है।

भारत के लिये क्या ये अनुभव काफी नहीं है ?

हम देखें कि नयी आर्थिकनीति के तहत क्या संरचनात्मक सुधार किया जा रहा है ?

संक्षेप में कहा जाय तो यह नीति मूलरूप में विदेशी पूँजी को आकर्षित करने पर आधारित है। भारत जैसे देश में जहाँ के राजनेता से लेकर उद्योगपति अपना धन विदेश में रखते हैं, किस तरह से विदेशी पूँजी को

आकृष्ट कर पायेंगे, इसे देखना है। फिर भी जो कुछ हो रहा है, वह निम्न प्रकार है—

बहुराष्ट्रीय कंपनियों का अबाध प्रवेश
आयात-निर्यात का उन्मुक्त व्यापार, नियंत्रणमुक्त
घरेलू औद्योगिक उत्पादन मे गिरावट
अनावश्यक एवं विलासिता सामानों के आयात में अपार वृद्धि,
विदेश व्यापार घाटा
बेरोजगारी में वृद्धि, नियोजन में कमी
कीमतों में उछाल, महँगी, दूहरे अकों में मुद्रास्फिति
नियोजित विकास की समाप्ति, क्षेत्रीय पिछड़ापन में वृद्धि
क्षेत्रीय विसमता की खाई चौड़ी
रुग्ण उद्योगों, और तालाबन्दी में वृद्धि
औद्योगिक विकास में ठहराव
कल्याणकारी योजनाओं की समाप्ति
सार्वजनिक क्षेत्र का निर्जीकरण
राष्ट्रीय शोध एवं उत्थान की क्षमता की बर्बादी
पर्यावरण में ह्रास
गरीबी और अमीरी की बढ़ती खाई, असमानता
सूचना, प्रसार-प्रचार पर एकाधिकार, संस्कृति पर हमला,
सामाजिक तनाव में वृद्धि, सांस्कृतिक विकृति
विदेशी कंपनियों को भूखंड पट्टे पर देना,
भूमि सुधार कानूनों की विदाई, बड़े-बड़े फार्मों का निर्माण।

हाल के प्रकाशित आँकड़े बताते हैं कि डा० मनमोहन सिंह की अपेक्षाओं के विपरीत जुलाई 94 में मुद्रास्फिति की दर 10.7 प्रतिशत और उससे ज्यादा बढ़ गयी। इसे इन्होंने चार प्रतिशत तक सीमित करने का आश्वासन दिया था। सकल घरेलू विकास दर जो 1992-93 में 4 प्रतिशत था वह घटकर अभी 3 8 प्रतिशत पर है। सकल घरेलू पूँजी निर्माण में भी कमी आ गयी है। यह 1991 के 26 5 प्रतिशत से घटकर 1992 में 24 प्रतिशत पर आ गया। कृषि क्षेत्र की पूँजी में भी प्रतिवर्ष कमी होती जा रही है। कृषि क्षेत्र की कुल पूँजी 1990-91 में 4642 करोड़ रुपये थी। 1991-92 में यह 1581 करोड़ और 1992-93 में 4567 करोड़ रुपय हो गयी। गरीबी रेखा के नीचे गुजर बसर करनेवालों की संख्या में

भी वृद्धि हुई है। अभी 40 प्रतिशत लोग गरीबीरेखा के नीचे हैं। देश को डा. मनमोहन सिंह की ओर से नयी आर्थिक नीति के तहत बैंक घोटाला पहला तोहफा था तो अभी विदेशी चीनी खरीद कांड ताजा तोहफा है।

प्रस्तावित संरचनात्मक सुधार में सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्योगों का निजीकरण करना केन्द्रीय महत्व का प्रश्न है। देश के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग को राष्ट्रीय अर्थतंत्र में नियामक ऊँचाई (Commanding Hight) पर रखना चाहते थे। किन्तु आज इसे ध्वस्त करना सरकारी एजेंडा है। किसी को भ्रम नहीं है कि सार्वजनिक क्षेत्र का दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण हैं। सही माने में भारतीय उद्योगपतियों को इनफ्रास्ट्रक्चर (आधारभूत संरचनाएँ, सुविधाएँ) प्रदान करने के निमित्त सार्वजनिक क्षेत्र में मूल उद्योगों का विकास किया गया। प्रारंभ में कोई मूल उद्योगों में पूँजी नहीं लगाना चाहता था, क्योंकि इसमें विशाल पूँजी की दरकार थी और रिटर्न देर से मिलता था। भारी उद्योगों में पूँजी लगाने के बाद प्रतीक्षा की अवधि (gestation period) लंबी होती है। ऐसी स्थिति में सरकार ने इसमें पैसा लगाया। इसका लाभ उद्योगपतियों को मिला।

वर्ष 1990–91 में सार्वजनिक उद्योग का कुल पूँजी निवेश 1,98, 925 करोड़ रुपये था। इस वर्ष लाभ कमाने वाली इकाइयों का कुल लाभ 7,801·61 करोड़ रुपये था और घाटा उठाने वाली इकाइयों का कुल घाटा 3,673·96 करोड़ था। इन घाटा उठाने वाली इकाइयों में अधिकतर वे उद्योग हैं, जो पहले निजी क्षेत्र में थे और रुग्ण होने के बाद उन्हें राष्ट्रीयकृत करके सार्वजनिक क्षेत्र में लाया गया।

यह भी कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि केन्द्रीय सरकार के कुल राजस्व का 50 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों द्वारा भुगतान किया गया कर (tax) होता है। 1991 में देश के कुल रोजगार का 7। प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में था। यह औसत अनेक विपरीत स्थितियों के बाद भी अभी भी कम नहीं हुआ है। दूसरी तरफ संपूर्ण राष्ट्रीय रोजगार योजना में निजी क्षेत्र का योगदान 1980 में 32 प्रतिशत था, जो 1991 में घटकर 29 प्रतिशत हो गया। प्रस्तावित ढाँचागत परिवर्त्तन को अमल में लाने से चालू वर्ष में एक लाख से अधिक कार्यरत मजदूरों की छँटनी हो जायगी।

सरकार सार्वजनिक क्षेत्र की शेयर पूँजी बेच रही है। किंतु बेची गयी शेयरपूँजी की रकम का विनियोग सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार में नहीं किया जाता है। विदेशी पूँजी के सामने यह साष्टांग दंडवत है।

विकल्प क्या है ?

अगर गैट (GAIT) का सदस्य बने बगैर चीन तरक्की कर सकता है। चीन का विकास दर अभी विश्व में सर्वाधिक है। अगर साम्राज्यवादी विश्व-व्यवस्था से जुड़े बगैर क्यूबा, वियतनाम, उत्तर कोरिया जैसे देश जिंदा रह सकते हैं। भौगोलिक रूप से छोटे इन देशों में विशाल हृदयवाली महान जनता निवास करती है। विगत तीस वर्षों से क्यूबा पर अमेरिकी सरकार द्वारा सख्त आर्थिक नाकेबंदी लगायी हुई है। वियतनाम में अं० मु० कोष और विश्व बैंक द्वारा विदेशी पूंजीनिवेश पर पाबंदी है। उत्तर कोरिया निरंतर युद्ध की धमकियों के बीच जी रहा है। ये देश जबसे विश्व परिदृश्य पर उभरे हैं तभी से अमेरिकी साम्राज्यवाद के कोपभाजन हैं। फलतः अं० मु० को० और विश्व बैंक इनकी सदस्यता को नामंजूर करता रहा है। अभी हाल में चीन ने फिर चेताया है कि अगर अमेरिकन उसके घरेलू मामले में टांग भिड़ाना बंद नहीं करेंगे तो वह गैट से अपनी सदस्यता का आवेदन वापस ले लेगा। चीन ने गैट में अपनी सदस्यता के लिये आवेदन कई वर्ष पूर्व दिया जो अभी स्वीकृत नहीं हुआ है।

राष्ट्रीय स्वाभिमान को जगाकर, अपने आंतरिक साधनों पर भरोसा करके, जनहितकारी योजनाओं को लागू करके आजाद भारत की आत्मनिर्भर स्वावलंबी अर्थव्यवस्था निर्मित की जा सकती है। इसके लिये दुनिया में हमारे मित्रों की कमी नहीं है, जिनके साथ हमारे पारस्परिक लाभ में द्विपक्षीय समझौते हो सकते हैं।

आज तीसरी दुनिया का हित एक जगह इकट्ठा है। आज दुनिया का मुख्य अंतर्विरोध साम्राज्यवादी विकसित राष्ट्र और पिछड़े विकासमान राष्ट्रों के बीच है। युग के वर्त्तमान दौर में विद्यमान इस नये विश्व अंतर्विरोध के बीच हमें अपनी जगह बनानी है। हमारी जगह तीसरी दुनिया के विकासमान देशों के बीच है। हमें विश्व साम्राज्यवाद की भूमंडलीय योजना के खिलाफ विकासमान देशों की पांत खड़ी करनी चाहिये। लेकिन नरसिंह राव सरकार भारत को साम्राज्यवादी पांत में खड़ाकर साम्राज्यवाद का बौना पार्टनर बनाने पर अमादा है।

एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में चार अरब से अधिक आबादी निवास करती है। यह आबादी विशाल उपभोक्ता बाजार है जहाँ औद्योगिक राष्ट्रों के तैयार माल बिकते हैं। राष्ट्र संघ में दो तिहाई से ज्यादा इन देशों

की सरकारें हैं। अगर ये सरकारें समान दृष्टिकोण अपनावें तो दुनिया का शक्ति संतुलन आमूल चूल बदल जायगा। यहाँ तेल, खनिज आदि अपार प्राकृतिक संपदाओं का अजस्र स्रोत है। यहाँ कृषि जन्य कच्चा काल का अकूत भंडार है। इस बूते पर हम विकसित औद्योगिक राष्ट्रों से सौदा कर सकते हैं। समूह-7 देशों पर दुनिया की किस्मत का फैसला करने की जिम्मेदारी छोड़ी नहीं जा सकती। मानवता हमसे अपेक्षा करती है कि हम आगे आयें। हम अकेले नहीं रहेंगे।

आयोजन समिति

मत्यानाशी आर्थिक नीति के खिलाफ सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूर प्रतिनिधियों का 16 सितम्बर 91 को दिल्ली में कनवेंशन हुआ, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के पदाधिकारियों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए। दूसरे दिन 17 सितम्बर को शप्रहाउस में निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के मजदूर प्रतिनिधियों का संयुक्त सम्मेलन हुआ, जिसमें इस आत्मघाती नीति के खिलाफ 29 नवम्बर 91 को अखिल भारतीय हड़ताल और भारत बंद करने का आह्वान किया गया। इस राष्ट्रीय अभियान के संचालन के लिये ट्रेड-यूनियन आयोजन समिति (Trade Unian's Sponsering Committee) का गठन किया गया। इस आयोजन समिति में भा० म० स० शामिल नहीं हुआ। ट्रेडयूनियन आयोजन समिति (TUSC) के तत्वावधान में 29 नवम्बर '91 और 16 जून 1992 को सफल राष्ट्रीय हड़ताल और भारत बन्द सम्पन्न हुआ। यही नहीं 25 नवम्बर '92 को संसद के सामने विशाल प्रदर्शन आयोजित किया गया। मजदूर आंदोलन उभार पर था ही कि इसी बीच 6 दिसम्बर को धर्मान्ध उन्मादियों ने अयोध्या कांड (बाबरी मस्जिद तोड़ना) कर दिया, जिससे देश साम्प्रदायिकता की चपेट में चला गया।

जन संगठन मंच

14 अप्रैल 93 को दिल्ली लालकिला मैदान में 13 दलों और 40 जनसंगठनों के तत्वावधान में विशाल रैली हुई। 15 अप्रैल को तालकटोरा स्टेडियम में पाँच हजार प्रतिनिधियों का कनवेंशन हुआ। इस कनवेंशन में ट्रेडयूनियनों के अलावा किसानों, खेतिहर मजदूरों, छात्रों, नौजवानों, महिलाओं, रंगकर्मियों, बुद्धिजीवियों आदि संगठनों के प्रतिनिधि शामिल हुए। पहले से कार्यरत ट्रेडयूनियन आयोजन समिति (TUSC) का

विस्तार हुआ। अब यह राष्ट्रीय जनसंगठन मंच (National Platform of Mass Orgenisation) बन गया।

इस जनसंगठन मंच के द्वारा अनेक राष्ट्रीय अभियान चलाये गये। 19 अगस्त '93 को जेल भरो आंदोलन, 9 सितम्बर को अखिल भारतीय औद्योगिक हड़ताल, 9 दिसम्बर को डंकल प्रस्ताव के खिलाफ संसद के सामने विराट प्रदर्शन, 5 अप्रैल '94 को संसद के समक्ष फिर जुझारू प्रदर्शन, जिसमें पुलिस ने बर्बर लाठी चार्ज करके सैकड़ों मजदूरों को बुरी तरह घायल कर दिया।

इसके बाद भी भारत सरकार प्रतिगामी संरचनात्मक परिवर्तनों के जरिये आत्म निर्भर राष्ट्रीय अर्थतंत्र को साम्राज्यवाद पर निर्भर व्यवस्था के रूप में तेजी से तब्दील करती जा रही है।

जनसंगठन मंच ने फिर राष्ट्रीय स्तर पर जन विरोध के चरण बद्ध व्यापक प्रतिरोध कार्यक्रम तैयार किये हैं। यह आंदोलन 3 अगस्त '94 से प्रारंभ होकर 20 सितम्बर को "रेल रोको" तथा 29 सितम्बर को आम हड़ताल में परिणत होगा।

इसी तरह वामदलों द्वारा 16 अगस्त से 9 सितम्बर तक सविनय अवज्ञा आंदोलन किया जायगा। हमें आशा करनी चाहिये प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी गठजोड़ के खिलाफ आम जनता बड़े पैमाने पर एकजूट होकर क्रिया के मैदान में उतरेगी।

वक्त का तकाजा है
एक ही राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्र

प्रत्येक संघर्ष प्रणाली और उसके स्वरूप की सीमा होती है। इसी तरह संयुक्त संघर्ष की भी एक सीमा है। अब उस सीमा को हम छू चुके हैं। अब इसे निर्णायक नयी मंजिल की तलाश है।

संयुक्त संघर्ष ट्रेडयूनियनों की एकता पर अधारित होता है। ट्रेड-यूनियनों की एकता और मजदूर वर्ग की एकता में बड़ा अंतर है। यह अंतर केवल रूपात्मक ही नहीं है, अपितु गुणात्मक भी है। आगे आनेवाले दौर का तकाजा है मजदूर वर्ग की एकता। ट्रेडयूनियनों की एकता वह सोपान है, जिसपर चढ़कर ही मजदूर वर्ग की एकता कायम की जा सकती है। लेकिन सोपान चढ़नेवालों को उद्देश्य की स्पष्टता आवश्यक है।

जब मजदूर संगठनों के शीर्ष नेता एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक समान कार्यक्रम बनाते हैं और संयुक्त रूप से उसपर अमल करने के लिए मजदूरों का संयुक्त आह्वान करते हैं तो यह ट्रेड यूनियनों की एकता पर आधारित संयुक्त संघर्ष होता है। इससे धरातल पर (कारखाने और उद्योगों में) मजदूरों की एकता नहीं बनती। धरातल पर यद्यपि उन पृथक संगठनों के सदस्य-मजदूर उस संयुक्त आह्वान पर समान रूप से आचरण करते हैं, किन्तु ऐसा करते समय वे अपने-अपने पृथक संगठनों के शीर्ष नेताओं के निर्णय का कार्यान्वियन करते होते हैं। इसके अलावा धरातल पर मजदूरों का बड़ा समुदाय होता है, जो संयुक्त संघर्ष का आह्वान करनेवाले संगठनों का सदस्य नहीं होता। इसलिए वे संघर्ष से बाहर रह जाते हैं, क्योंकि उनके संगठन का कोई निदेश उन्हें नहीं होता है। इसके अलावा भी मजदूरों का विशाल समुदाय होता है, जो किसी भी संगठन का सदस्य नहीं होता। चूँकि यूनियनें अनेक होती हैं, इसलिए किसी एक का सदस्य बनकर वे दूसरों को नाराज नहीं करना चाहते। हाल के वर्षों में ट्रेड यूनियनों की सदस्यता नहीं लेनेवाले मजदूरों की तादाद में काफी वृद्धि हुई है। उन्हें समेट कर मुख्य धारा में शामिल करना ट्रेड यूनियनों की नयी समस्या है।

चूँकि संयुक्त संघर्ष में यूनियनों का पृथक अस्तित्व बना रहता है, इसलिए इस तरह का संयुक्त संघर्ष अपने-अपने संगठनों को मजबूत बनाने की प्रतियोगिता का माध्यम भी बनता है। यही वह सीमा है, जिससे आगे संयुक्त संघर्ष नहीं बढ़ पाता। जब कोई ऐसा महसूस करता है कि संयुक्त संघर्ष में उसका संगठन मजबूत होने के बजाय कमजोर हुआ है या उसे अपेक्षित सांगठनिक महत्व नहीं मिला है तो वह संयुक्त संघर्ष से अलग हो जाता है। अपना अस्तित्व गँवाने के लिए कोई भी संयुक्त संघर्ष में शामिल नहीं होता।

लेकिन मजदूर एकता की स्वाभाविक माँग है धरातल पर मजदूरों का एकताबद्ध एक संगठन। एक उद्योग एक यूनियन। एक कारखाना एक यूनियन। एक ही कारखाने में अनेक यूनियनों के अस्तित्व की समाप्ति के बगैर मजदूर एकता संभव नहीं है। एक उद्योग में एक ही यूनियन का मजबूत अस्तित्व मजदूरों के हितों की रक्षा का सच्चा प्रहरी हो सकता है।

एटक के बंगलौर अधिवेशन ने सभी केन्द्रीय मजदूर संगठनों को मिलाकर एक ही अखिल भारतीय केन्द्र बनाने का आह्वान किया था। हिंद मजदूर

सभा ने इसपर अपनी सहमति जतायी। अन्य संगठनों ने अनुकूल उत्तर नहीं दिये। कुछ लोगों ने राष्ट्रीय अभियान समिति को इसके लिये पर्याप्त समझा।

लेकिन उस राष्ट्रीय अभियान समिति (NCC) का क्या हुआ ? 1980 के बाद के दसक में जिस राष्ट्रीय अभियान समिति के नेतृत्व में अनेक ऐतिहासिक संयुक्त संघर्ष हुए, वह अब कहाँ है ?

राष्ट्रीय अभियान समिति NCC) काँग्रेस (इ) की जनविरोधी मजदूर विरोधी नीतियों के खिलाफ और ट्रेड यूनियन अधिकारों की रक्षा के लिए चलाये गये संघर्ष में केन्द्रीय मजदूर संगठनों के शीर्ष नेताओं का तात्कालिक संयुक्त मच था। 1989 में काँग्रेस (इ) सरकार के पतन और जनता दल सरकार के गठन के साथ ही उस अभियान समिति का कार्यकाल पूरा हो गया।

बाद के दिनों में सबसे पहले भारतीय मजदूर संघ ने अभियान समिति से अपने को अलग कर लिया। फिर एक्टू और एच०एम०के०पी० ने कुछ और छिटफुट संगठनों को लेकर अलग मोर्चा खोला। आज भी वह मोर्चा जन-संगठन मंच के समानांतर काम कर रहा है। यद्यपि एक्टू जनसंगठन मंच का भी घटक है। इसी तरह इटक एन०सी०सी० का घटक कभी नहीं रहा। एन० सी० सी० संपूर्ण भारतीय मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि नहीं था। इसलिए वह एकताबद्ध मजदूरों के राष्ट्रीय केन्द्र का स्थान नहीं ले सकता था।

इसी तरह 1991 और बाद के वर्षों में ट्रेड यूनियन आयोजन समिति (TUSC) के तत्वावधान में शक्तिशाली संयुक्त आंदोलन विकसित हुए, जिसका विस्तार वर्त्तमान जनसंगठन मंच है। ट्रेड यूनियन आयोजन समिति और जनसंगठन मंच के आह्वान ने बेशक देश के करोड़ों मजदूरों-कर्मचारियों के दिलों में शानदार उत्साह जगाया है और कई राष्ट्रव्यापी आम हड़तालों तथा अनेक जंगजू कार्रवाइयों के जरिये देश के मजदूर वर्ग को अपने हितों के हिफाजत के लिये एकजूट किया है। लेकिन वह एकीकृत राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्र का स्थान नहीं ले सकता। छोटे-मोटे झगड़ों और मत-मतांतरों से ऊपर उठकर मिहनतकस आवाम ने निश्चय ही वर्त्तमान परिस्थिति की गंभीरता को समझा है। इसीलिये भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस (एटक) का पटना में सम्पन्न 35 वें महाधिवेशन (11-15 मार्च 1994) ने परिस्थिति का मूल्यांकन करते हुए मजदूर एकता के प्रश्न पर निम्न प्रकार प्रस्ताव किया है—

"मजदूर वर्ग के प्रति राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्रों का दायित्व है कि वे अब तक हासिल की गयी एकता को और ऊँचे स्तर तक उठायें, चुनौतियों का सामना करने के लिये समान रणनीति विकसित करें। भारत के संदर्भ में सांगठनिक एकता, जो एक ही राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्र के रूप में विकसित हो, अपरिहार्य हो गया है। ऐसा नहीं हुआ तो खतरा यह है कि ट्रेड यूनियन आंदोलन दरकिनार कर दिया जा सकता है।"

उपर्युक्त प्रस्ताव उपदेश मात्र नहीं है। यह आवश्यकता की सच्ची अनुभूति है और विगत वर्षों की अनुभूतियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। चुनौतियों का सामना करने के लिये समान रणनीति का विकास करना राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्रों का दायित्व है। अब तक हासिल की गयी एकता को और ऊँचे स्तर तक उठाना मजदूर वर्ग के राष्ट्रीय नेताओं का राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। यह बात आज मजदूर वर्ग की चेतना में शामिल हो गयी है।

इसीलिये प्रस्ताव में एक चेतावनी भी है—"ऐसा नहीं हुआ तो खतरा यह है कि ट्रेड यूनियन आंदोलन दरकिनार कर दिया जा सकता है।" जाहिर है, यह चेतावनी चलते-चलाते नहीं है। सोवियत यूनियन और पूर्वी योरप की घटनाएँ, और दूर क्यों, स्वयं अपने देश की कुछेक घटनाएँ क्या हमारी आँखें खोलने के लिये काफी नहीं हैं?

अपने देश में संघबद्ध (unionised) मजदूरों की संख्या तेजी से घट रही है। संघमुक्त (un-unionised) मजदूरों की संख्या बढ़ रही है। राबिनहूड टाइप स्थानीय मजदूर नेताओं का उदय हो रहा है। झारखंड, बोडो आदि तीक्ष्ण क्षेत्रीयता पर आधारित ट्रेड यूनियनें पैर फैला रहे हैं। जातीय आधारित यूनियनों की बाढ़ आ गयी है। पार्टी आधारित यूनियनों के दिन लद गये हैं। बंगाल के कनौजिया जूट मिल परिघटना एकांतिक नहीं है।

हम बहुत दिनों से प्रतिक्रियावाद और अधिनायकवाद के खतरे से जनगण को सावधान करते आ रहे हैं। क्या अब प्रतिक्रिया और एकाधिकार स्वयं साकार सामने दबोचने के लिये खड़ा नहीं हो गया है? क्या मजदूरों की विभाजित टोलियाँ अलग-अलग डफलियाँ बजाकर इसका सामना करेंगी? अगर ऐसे में ट्रेड यूनियन केन्द्रों ने सामूहिक नेतृत्व नहीं दिया तो मजदूर वर्ग अपनी हिफाजत में निश्चय ही स्वयं कदम बढ़ायेंगे। तब बहुत संभव है, मजदूरों के बढ़ाये वे कदम हमारे पसंद के न भी हों।

प्रधानमंत्री नरसिंह राव जी ने गत 14 जुलाई को अपनी आर्थिक नीति के तीन वर्ष पूरे होने के उपलक्ष में दिल्ली लाल किला के सामने आयोजित रैली को सम्बोधित करते हुए कहा कि उनकी सरकार बहुमत में आने के बाद भी 'आम सहमति' के आधार पर काम करेगी। जब नरसिंह राव जी अल्पमत में थे तो उनकी अल्पमती सरकार ने 'आम सहमति' से कभी काम नहीं किया। अब वह बहुमत में आ गये हैं तो आम सहमति की बात करते हैं। उनके सामने अगला आम चुनाव है। 14 जुलाई को, जब वे लाल किला से बोल रहे थे, तो उस दिन संपूर्ण देश के सार्वजनिक उद्योग के मजदूर हड़ताल पर थे। निश्चय ही 'आम सहमति' की घोषणा जनमत को भरमाने वाली चाल है।

यह बात वित्तमंत्री डा० मनमोहन सिंह के उस वक्तव्य से साबित हो जाती है, जो उन्होंने ठीक दूसरे ही दिन 15 जुलाई के वक्तव्य में कहा कि उपभोक्ता सामानों के आयात का पूरा दरवाजा खोल दिया गया है और सीमाकर को गैट के अनुकूल पूर्ण उदार बना दिया गया है, कि गैट समझौता से वे पीछे नहीं हटनेवाले हैं। इसलिये जो कुछ वे कर चुके हैं, उसपर प्रधान-मंत्री राष्ट्र की सहमति चाहते हैं। "आम सहमति" का यही अर्थ है।

जब विदेशी पूँजी आती है तो विदेशी नीतियाँ आती हैं। जब विदेशी पूँजी आती है तो प्रच्छन्न विदेशी शासन आता है। जब विदेशी पूँजी आती है तो प्रत्यक्ष आर्थिक गुलामी आती है।

हमारा संघर्ष साम्राज्यवादी आर्थिक गुलामी के खिलाफ है। हमारा संघर्ष राष्ट्रीय आजादी और लोकतंत्र की हिफाजत का है।

तो आइये, साम्राज्यवादी फंदे के इस ताने-बाने को तोड़ने के लिये हम एकजूट हों। आइये, सामंतों और एकाधिकार पूँजी के शोषण-दोहन के विरूद्ध संघर्ष को निर्णायक मंजिल दें।

समय की पुकार है—हम एकजूट आगे बढ़ें

वक्त आ गया है—"दुनिया के मजदूरो एक हो" के नारे को सही अर्थ प्रदान करें।

वक्त का तकाजा है—एकमात्र राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन केन्द्र के निर्माण के लिये हम आगे बढ़ें।

15 अगस्त 1994

—स०ना०ठा०